श्री रासबिहारी जी

भागवत दर्शन

खण्ड ७५

गीतावार्त्ता (७)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:o:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

✱

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण] वैशाख पूर्णिमा [मू० १.६५ पै०
१००० प्रति] २०२७

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

निःश्वास

आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व श्री महाराज जी अपनी दैनंदिनी में कुछ मन को समझाने के निमित्ति उपदेश लिखते थे । उन्हें आपके एक परम प्रिय भक्त श्री ने निःश्वास के नाम से छपा दिया, इसके कई संस्करण हिन्दी में तथा अँग्रेजो में छप चुके हैं । यह छोटी-सी पुस्तक बहुत हो उपादेह है । इसके उपदेश सीधे हृदय पर चोट करते हैं । इसे हम फिर से छाप रहे हैं । मूल्य लगभग ३० पैसे ।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम

(सहस्र दोहा भाष्य सहित)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनो के हाथों में पहुँची, लोगो ने पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये । पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जो इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के ऊपर एक-एक दोहा भी बना दिया । इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये । प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते है उसे कथा मे सुनाते हैं उसका वणन इस परिचय सूचना-पत्र में करना असम्भव है । शीघ्र ही छपकर तैयार हो रहा है । पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें ।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

विषय

अपनी निजी चर्चा

[६]

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो-
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्ग ॥*
(श्री भा० ७ स्क० ९ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

भटकि भटकि भव माहिँ शरन चरननि की आयो ।
शरनागत अपनाइँ वेद अरु शास्त्रनि गायो ॥
मोकूँ लेवैं शरन स्वयं नहिँ आइ सकुञ्चो ।
अधमति कूँ अपनाउ कौन मुख आइ कहुञ्चो ॥
संतसंग भगवत कथा, करत सतत सेवन रहूँ ।
तो अपनाओगे अवसि, जिह आशा लैकें लिखूँ ॥

---

* हे नृसिंह प्रभो ! आप ही मेरे पर देव हैं परमाराध्य हैं । आप ही परम प्रिय हैं, आप ही मेरे एक मात्र सुहृद् हैं । मैं रागादि प्राकृत गुणों से मुक्त बनकर इस संसार की विपत्तियों को, अवश्य ही सुगमता के साथ पार कर जाऊँगा, यदि ब्रह्माजी द्वारा गायी हुई आपकी लीला कथाओं का गान करता रहूँगा और आपके चरणारविन्दाश्रित परमभक्त परमहंस महात्माओं का संग मिलता रहे तो ।

कुछ भी न किया जाय, यह सबसे श्रेष्ठ है। सहज भाव में अवस्थित रहे। कोई संकल्प नहीं विकल्प नहीं। दुःख नहीं सुख नहीं। कोई कर्तव्य नहीं अकर्तव्य नहीं, गृहण नहीं त्याग नहीं। अपना नहीं पराया नहो। शरीर रहे तो रहे जाय तो जाय, इसकी चिन्ता नहीं। इच्छा नहीं द्वेप नहीं स्वांस प्रश्वास आती जाती हैं आओ जाओ, न आवें जायं मत आओ जाओ। भाग्यवश ऐसी सहजावृत्ति हो जाय, तो ऐसे सहज समाधिनिष्ठ ज्ञानयोगि को कुछ कर्तव्य शेप नहीं रह जाता। वह तो जीवन्मुक्त ही है। करने का संकल्प ही हत्या की जड़ है। यही संस्कारों को बनाता है यही बार-बार जन्माता और मराता है। परन्तु प्राणी कुछ किये बिना रह नहीं सकता मन को संकल्प विकल्प वाला कहा ही है। जब तक मन है, संकल्प विकल्प उठेगा ही। संकल्प होने से कर्मों में प्रवृत्ति होगी ही। इसलिये बिना कुछ किये नहीं रहा जाय, तो चित्त की नाना विषयों में बिखरी हुई वृत्तियों के निरोध का प्रयत्न करे। उन कार्यों को ही करे, जिनके द्वारा आत्मतत्व का बोध हो, श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में भक्ति हो।

किन्तु इन कार्यों को सब नहीं कर सकते। हम जो कुछ खाते पीते हैं उनमें पुण्य पाप दोनों का अंश रहता है। प्रायः सब शरीरों में पाप का ही अंश अधिक होता है। नर-नारियों की जैसी वासनायें होंगी, गर्भस्थ बालक के वैसे ही संस्कार बनेंगे। भाव दूपित, कर्म दूपित, संग दूपित अन्न जल से दूपित ही मन बनेगा। "जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।" दूपित मन में दूपित ही भाव उठेंगे। दूपित भाव मे होने से परमार्थ सम्बन्धी साधनों में मन ही न लगेगा। जिनके शुभ कर्म करते करते पाप क्षीण हो गये हों, ऐसे निष्पाप, क्षीण पाप पुरुषों से परमार्थ सम्बन्धी कार्य

हो सकते हैं, उन्हीं के हृदय में भगवत्भक्ति भाव उत्पन्न हो सकते हैं।

यदि चित्त वृत्ति के निरोध के ध्यान धारण आदि कार्य न हो सकें अथवा श्रवण, कीर्तन प्रभु पूजनादि विशुद्ध भक्ति के कार्य न हो सकें तो इस जनता को ही जनार्दन मानकर इसकी सेवा के ही निमित्त संसारी लोगों की भाँति दौड़ धूप के कार्य करता रहे। क्योंकि स्थूल मन स्थूल कार्यों में ही लगता है, सब लोग स्थूल कार्यों को कर ही रहे हैं। ईंट पत्थर जोड़ना, बाल-बच्चों के लिये रोटी जुटाना, दौड़ धूप करना। इनको सिखाना नहीं पड़ता। इनकी ही भाँति स्थूल कार्यों में लग जाय, किन्तु सब लोग अपने लिये इन कामों को करते हैं, साधक दूसरों के लिये करे संसारी लोग स्वार्थ बुद्धि से कार्य करते हैं, साधक परोपकार बुद्धि से कार्य करे। यह भी परमार्थ सम्बन्धी साधन है, परन्तु इसमें एक बड़ी भारी कठिनाई है। परोपकार करते-करते अहंभाव आ जाता है। यह मैंने किया, मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई इस कार्य को कर ही नहीं सकता था। मेरे द्वारा कितने बड़े-बड़े कार्य हो रहे हैं। ऐसे भाव आते ही सब गुड़ गोबर हो जाता है। फिर वह परमार्थ न रहकर स्वार्थ हो जाता है। ये सब संस्थोपजीवी बन्धु पहिले तो परमार्थ भाव से ही प्रवृत्त होते हैं। फिर कार्य करते-करते पूर्व जन्मों के संस्कार वश अहंता आ जाती है, उन कार्यों में राग हो हो जाता है, तो उनके विरोध करने वालों से द्वेष होने लगता है। फिर वह परमार्थ साधन न रहकर स्वार्थ साधन बन जाता है। अतः परोपकार सम्बन्धी कार्यों में भी पग-पग पर बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। सदा सावधान रहना यही साधना का मूलमंत्र है। जो साधन करते समय सदा सचेष्ट सावधान रहते हैं वे ही इस संसार सागर को पार कर जाते हैं। जो असावधानी

करते हैं, ऊँचे चढ़कर भी पतित हो जाते हैं। फिर उन्हें दम्भ पाखंड का आश्रय लेना पड़ता है।

अमुक आदमी दम्भी है, पापी है, ढोंगी है यह कहना भी सबसे बड़ी मूर्खता है। स्वेच्छा से कोई दम्भ, पाप, पाखंड या ढोंग थोड़े ही करता है। परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने को विवश कर देती हैं। आलोचना करने वाले भी यदि उनकी जैसी परिस्थिति में होते, तो उन्हे भी वैसा ही करने को विवश होना पड़ता। पूर्व जन्मकृत कर्म वैसा करने को विवश कर देते हैं। यथार्थ में प्राणी दैवाधीन है, कर्म ही उससे विवश होकर कराते हैं। प्रारब्ध कर्म ही उसे बलात् पुण्य पापों में प्रेरित कर रहे हैं। एक मात्र भगवान् को ही शरण में जाय, उन्हो से रो रोकर प्रार्थना करे। प्रभो ! मुझे अपनी शरण में ले लो। मैं स्वयं आपकी शरण में भी नही जा सकता जब आप कृपा करेंगे तब ही आपकी शरण में भी आ सकूँगा।"

हाँ तो गीतावार्ता सुनने के पूर्व अपनी निजी चर्चा की चटपटी चटनी चाट कर तब मानसिक आहार का भोजन कीजिये। अपनी तीर्थ यात्रा गाड़ी को छोड़कर मोटरों से दौड़ धूप करके, सब तीर्थों को समाप्त करके गोपाष्टमी से होने वाले अपने अनशन के लिये गोपाष्टमी से एक दिन पहिले हम अपने वृन्दावन स्थित इस पार से वंशीवट संकीर्तन भवन आश्रम में आ गये। अनशन तो उस पार के राधारानी क्षेत्र के गोलोक आश्रम में करना है। अतः गोलोक जाने के पूर्व पाठकों का तीर्थ यात्रा गाड़ी का क्या हुआ इसे सुनाकर तब आगे चलेंगे।

मै तीर्थयात्रा गाड़ी को बम्बई छोड़ आया था। अब उसे गाड़ी न कहकर बिखरे डिब्बे ही करना चाहिये। नासिक से एक-एक डिब्बा दूसरी गाड़ियों में जोड़कर सब डिब्बे बम्बई पहुँचाये गये

थे। कुछ यात्री तो रेल की आशा छोड़कर अपने घर लौट गये। कुछ लोग इस आशा से कि संभव है कभी गाड़ी चल ही पड़े। वहीं स्टेशन पर पड़े रहे। पुलिस उन्हें घेरे रहती थी। समाचार पत्रों में मैं पढ़ता रहता था, यात्रियों को जल का कष्ट है, प्रकाश का कष्ट है अमुक लोग यात्रियों को देखने आये। सब लोग हमारे रेल के व्यवस्थापक स्वामी बलदेवाचार्य पर अत्यन्त असन्तुष्ट थे, उन्हें सभी खरी खोटी सुनाते थे। सब की बातों से ऊबकर वे देहली चले गये, कि अधिकारियों से मिलकर गाडी के चलाने का कोई उपाय निकाला जाय। देहली रेल के कर्मचारियों ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया। अब इस सम्बन्ध में कुछ भी होने का नहीं। केन्द्र के गृह विभाग की आज्ञा से गाड़ी भंग की गयी है, हम लोग कुछ भी नहीं कर सकते।"

भगवान् जब जैसा कराना चाहते हैं, तब तैसा ही बुद्धियोग प्रदान कर देते हैं। हमने अपनी गाड़ी में एक डिब्बा उपासना गृह पृथक् बना रखा था। उसमें चौबीसों घन्टे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामंत्र का गाजे बाजे के साथ अखंड कीर्तन होता रहता था। कीर्तन करने वाली मंडली नैपाल के भक्तवर पं० कवि प्रसाद जी गौत्तम की थी, उनके भाई पं० ज्योति प्रसाद गौत्तम, उनके पुत्र पं० अनन्त गौतम तथा और भी १०-१५ भक्त थे। वे बडी लगन के साथ समस्त तीर्थों में कीर्तन की धूम मचाते थे। कीर्तन करने वालों को बिना शुल्क के ले गये थे। कुछ नैपाली भक्त टिकट लेकर भी यात्रा में गये थे। देहली में बलदेवाचार्य के मन में विचार आया कि क्यों न नैपाल के राजदूत से इस

को कहें। विचार आते ही उन्होंने दूरभाष यन्त्र (टेलीफोन) से नेपाल के राजदूत से संपर्क स्थापित किया। संयोग को बात देखिये दूरभाष पर स्वयं नेपाल के राजदूत ही बोले - क्या बात है ?

बलदेवाचार्य ने कहा--"बम्बई स्टेशन पर २५-३० नेपाल के नागरिक बड़े कष्ट में हैं ?"

राजदूत ने पूछा—"उन्हें कष्ट कौन दे रहा है।"

बलदेवाचार्य ने कहा—कोई कष्ट दे नहीं रहा है, ऐसे-ऐसे तीर्थयात्रा गाडी गयी थी। सरकार ने उसे भंग कर दिया है। सभी यात्री दुःख पा रहे हैं।

राजदूत ने पूछा—"गाडी क्यों भङ्ग कर दी है।"

बलदेवाचार्य ने कहा--"इसका तो पता नहीं क्यों कर दी है।"

राजदूत --तो हम किससे सम्पर्क स्थापित करें किससे कहें ? रेलवालों से पूछें ?

बलदेवाचार्य ने कहा—इसे तो आप ही जानिये। रेलवाले तो कहते है हमारे वश की बात नही।

कड़ककर राजदूत बोला—"अच्छा ठीक है, मै अभी प्रधान मन्त्री के पास जाता हूँ।"

इसके पश्चात् क्या हुआ। राजदूत गये या नहीं, उन्होंने किससे क्या बातें कीं ? कौन सा मन्त्र पढ़ दिया। आधे ही घंटे में आकाश वृत्तयन्त्र (वाइरलेस) से बम्बई के अधिकारियों को समाचार गया। आध घंटे में ही इंजन आ गया, हमारी रेल बन गयी और घंटे दो घंटे में ही हमारी गाडी बम्बई स्टेशन से चल पडी। मैं वृन्दावन में था, बलदेवाचार्य देहली में थे, हमारी गाड़ी द्वारका की ओर दौड़ रही थी। मेरे अनशन के १५ या २० वें दिन गाड़ी घूम-घाम कर वृन्दावन आ गयी। देहली में जाकर वह

समाप्त हो गयी। इस प्रकार तीर्थयात्रा विशेष गाड़ी का अध्याय यहाँ आकर समाप्त हुआ, अब अनशन का अध्याय आरम्भ होता है।

मैंने समाचार पत्रों द्वारा सभी गोरक्षार्थ अनशन करनेवालों का आह्वान किया किया था। ५०-६० आदमियों ने आने का वचन भी दिया था। किन्तु १४-१५ आदमी के लगभग अनशन करने आये थे। आने वाले तो बहुत थे, किन्तु कार्य कठिन था, जीवन-मरण का प्रश्न था। अतः बहुतों ने समय पर मना कर दिया। बहुत से आये ही नहीं थे।

गोलोक में क्वार तक तो पानी ही भरा रहा। जब बाढ़ उतर गयी। यमुना जी कम हो गयी, तब वहाँ अनशन करने वालों के लिये तथा सेवक और दर्शनार्थियों के लिये फूँस की कुटियायें तैयार कराई। मेरी मिट्टी की कच्ची कुटी जल में डूब कर ढह गयी थी। उसी गीली भूमि में गीले गारे से चारों ओर की दिवालें उठाकर उस पर फूँस का छप्पर डाला गया था। उसकी दीवाले गीली थीं उन्हें सूखने को ३-४ महीने चाहिये नीचे भूमि से भी उसमें पानी रिसता था। दो बड़े-बड़े पक्के मकान पहिले ही बने हुए थे। जाड़ा न लगे इसलिये अन्य सभी अनशन कारियों को पुआल बिछवाकर ऊपर से गद्दे डालकर पक्के मकानों में रखा। मेरे ही लिये अलग कच्ची कुटी बनी थी।

सप्तमी को हम सभी वहाँ पहुँचे। दर्शनार्थियों की भीड़ थी। सप्तमी को वहाँ प्रसाद बना। कल से तो अनशन ही है, अतः वहाँ एक प्रकार का उत्सव ही हो गया। दर्शनार्थियों का दिन भर तांता लगा रहा। सबने अपना-अपना स्थान ग्रहण कर लिया। मेरी कुटिया अभी तक तैयार नहीं थी। चारों दिवाल गीली मिट्टी की नीचे से पानी रिस रहा है, कुटिया क्या थी हिमालय

की हिमनिर्मित शिलाओं की एक बहुत ही ठंडी गुफा-सी बन गयी। अभी लिहसाई लिपाई शेष थी। दिन भर दौड़ धूप करके सायकाल तक लिपाई लिहसाई हुई। उसे सुखाने के लिये नीचे के पानी को सोखने के लिये उसमें गरम बालू बिछायी गयी। रात्रि भर कंडों की आग सुलगायी गयी। निश्चय यह हुआ कि कल ही इस कुटी में प्रवेश होगा।

पास में ही पुराना स्नान घर था। उसकी जमीन तो सीमेंट की पक्की थी। झोंपड़ी फूंस की थी। सप्तमी की रात्रि में उसी में रहने का निश्चय हुआ। बड़ी उत्सुकता थी पूरे देश भर में, वृन्दावन के तो बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर अनशन की बात थी। सायंकाल सब लोग खा पीकर रात्रि के १०-११ बजे तक जागते रहे। १२ बजे के लगभग सब सोये। मैं तखत पर पडा ही था, सोया नहीं था, तभी रामराज ने आकर कहा—पुलिस आ गयी है, उसने समस्त आश्रम को घेर लिया है। तब तक ही एक राज पत्रक राज्यधिकारी पुलिस प्रधान के मेरी कुटिया में आ गया। और बहुत ही नम्रता के साथ कहा—"आपका वारन्ट है, इसी समय आपको चलना होगा।"

मैं तो इसके लिये उद्यत ही बैठा था, मैंने कहा—"मै चलने को तत्पर हूँ। स्नान करके मै गौ पूजन कर लूँ।"

उन्होंने कहा—"हाँ, कर लीजिये, किन्तु शीघ्रता कीजिये।"

इतने में ही सब आश्रमवासी जुट आये मैंने स्नान करके गौ पूजन किया और अपने आप जाकर गाड़ी में बैठ गया। भग-वान् के पूजन का सब सामान यमुना जल इतना साथ ले लिया। सभी ने वाष्प पूरित लोचनों से विदाई दी। हमारी गाड़ी बहुत से पुलिस जनों से घिरी हुई चल पड़ी, वह माट, राया आदि होते हुए लगभग चार बजे मथुरा कारावास पर पहुँच गयी। मुझे

कारावास में भीतर करके राज्य कर्मचारी चले गये मैं श्रीकृष्ण जन्म भूमि में पहुँच गया।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी के माता-पिता कंस की जेल में बंद थे, जेल में ही श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् का जन्म हुआ। अतः हम सब लोग जेल को श्रीकृष्ण जन्म भूमि ही कहा करते थे। कहीं की जेल क्यों न हो यही कहते थे हम कृष्ण जन्म भूमि से छूट कर आये हैं। जेल पहिले बड़ी भयंकर लगती थी। जेल का नाम सुनते ही लोग कांप जाते थे। कारावास जाना कोई भी नहीं चाहता था। जो अपराधी होते थे, वे ही कारावास में जाते थे। लोग उनको बहुत ही हेय दृष्टि से देखते थे। पहिले जेलों में यातनायें भी कठोर से कठोर दी जाती थीं, किन्तु सन् २१ के असहयोग आन्दोलन से कारवासों की दशा में परिवर्तन हुआ। उनमें अपराधी ही न जाकर देशभक्त बड़े से बड़े लोग जाने लगे। राजनैतिक कार्यों से जेल जाना अत्यन्त ही गौरव की बात हो गयी। देश के लिये जेल जाने वालों की सर्वत्र प्रतिष्ठा होने लगे। फिर जेल जेल न रहकर खेल बन गये। राजनैतिक बन्दियों को यातना न देकर उन्हें सभी प्रकार की सुविधायें दी जाने लगीं। पहिले जो हमारे मन में जेलों का बड़ा भारी भय और आतंक था, वह जेल जाने से नष्ट हो गया। एक बार जेल हो आने से फिर जेल का भय भग जाता है। मैने तो जेलों में जितनी सुविधायें पायीं हैं उतनी सुविधायें कभी घर में नहीं पायीं। मैं न जाने अब तक कितनी जेलों में रह चुका हूँ।

सन् २१ के असहयोग आन्दोलन में पहिले पहिल बुलन्द शहर जेल में रहा। फिर बरेली केन्द्रीत जेल में, फिर फैजाबाद जिला जेल में तदनन्तर ५ महीने लखनऊ जिला में विशेष श्रेणी (स्पेशल क्लास) में रहा। सन् २१ में चार जेलों में रहा।

सन् ३१ के सत्याग्रह आन्दोलन में दो बार प्रयाग जिला जेल (मलाका) में रहा, फिर बहराइच में। इसके अनन्तर स्वराज्य होने पर रामलीला के मामले में मलाका जेल में इस प्रकार मलाका जेल में तीन बार रहा।

तीसरी बार स्वराज्य हो जाने पर गौ रक्षा के लिये लखनऊ जेल में भी गया। किन्तु उसमें रहा नहो। उन दिनों बाबू संपूर्णानन्द जी मुख्य मन्त्री थे। उनसे मेरा अत्यन्त सौहार्द्र का सम्बन्ध था। उन्होंने कह रखा था-ब्रह्मचारी जी को और लाला हरदेव जी को मत पकड़ना। अतः हम बार-बार सत्याग्रह करते। पुलिस वाले समें पकड़ कर जेल तक ले तो जाते। जेल के भीतर और लोगों को तो रख लेते। मुझे निकाल दिया करते।

इसके पश्चात् गोरक्षा के ही सम्बन्ध में पटना जेल में रहना पड़ा। जब गोरक्षा का कानून बिहार प्रान्त में बन गया, तो हमें छोड़ दिया।

अब के छटवीं बार श्रीकृष्ण जन्म भूमि में आये। अब तक तो अन्य जेलो को ही कृष्ण जन्म भूमि कहा करते थे, अब के साक्षात् श्री कृष्ण की जन्म भूमि मथुरा जेल में ही आ गये। ३०-४० वर्ष प्रयाग में रहने पर भी नैनी केन्द्रीय जेल नहीं देखी थी सो वह भी अब के दो दिन रहकर देख ली इस प्रकार ६ बार में ११ जेल तो अब तक देख लीं। अब पता नहीं आगे क्या होता है। यह संसार भी एक प्रकार की जेल ही है जीव विवश बना बिना इच्छा के भी भोगों को भोग रहा है।

मथुरा जेल के सभी अधिकारियों ने मेरे साथ अत्यन्त ही शिष्ट व्यवहार किया मैं तो ६ बार में ११ जेलों में रहा, किन्तु कभी भी किसी भी कर्मचारी ने मेरे साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं किया। इसका कारण यही था कि सन् २१ को छोड़कर जब भी मैं जेल

गया मौन व्रत की ही दशा में गया। मौनी, फलाहारी साधु होने के नाते सभी आदर की दृष्टि से देखते। कैसे भी सही उनके भी तो हृदय है, वे भी तो भारतीय हैं, उन्हें भी तो धर्म के प्रति-आस्था है। वे यह भी जानते हैं, कि ये किसी चोरी डकैती के अपराध में जेल नहीं आये। देश भक्ति के लिये धर्म की रक्षा के लिये आये हैं, अतः इन्हें जितनी ही सुविधायें हम दे सकें उतना ही पुण्य होगा। बाहर के लोग तो समझते हैं, ब्रह्मचारी जी जेल में रहकर बड़ी विपत्तियाँ सह रहे हैं, कष्ट पा रहे हैं, किन्तु यथार्थ बात ऐसी है, कि जितनी सुविधा निश्चिन्ता मुझे जेलों में रहती है उतनी बाहर नहीं।

जेल में एक तो दर्शनार्थी व्यर्थ तंग करने वाले नहीं आ सकते। रहने को एकान्त स्थान मिलता है। सेवा करने को मनमाने सेवक नित्य स्वास्थ्य की परीक्षा के लिये चिकित्सक जिले का सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक (सिविल सर्जन) नित्य आता है। इसी प्रकार मथुरा जेल में भी मुझे सब सुविधायें थी। गोपाष्टमी से अनशन तो जेल में आते ही आरम्भ हो गया था। अतः भोजन का तो प्रश्न ही नहीं। यमुना जल रामजी तथा दूसरे बन्धु नित्य जेल के फाटक पर पहुँचा जाते थे। पूजा करने को तुलसी फूल जेल में पर्याप्त मिलते थे। सेवा करने को सेवक मिले थे। निवास स्थान को लीप पोतकर स्वच्छ सुन्दर बना लिया था। दिन में कोई न कोई बड़ा छोटा नेता, आश्रम का आदमी, केन्द्रीय सरकार या स्थानीय अधिकारियों की अनुमति से मिल ही जाते थे। आरंभ में तो मिलने पर कड़ा प्रतिबन्ध था। पीछे ढीला पड़ गया। समाचार पत्र भी मिल जाते थे। बाहर क्या हो रहा है, इसका कुछ आभास हो मिलता था।

मैं प्रातः उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर पूजा पर बैठ जाता

दिन भर पूजा ही करना तो था, दूसरा काम ही नहीं। भोजन न करने से प्यास भी नहीं लगती थी। हठपूर्वक यमुनाजल पी लेता, फिर उसे कुञ्जलिनी क्रिया द्वारा बाहर निकाल देता। भोजन की याद ही नहीं आती थी। मै जब कुञ्जलिनी क्रिया करता जेल का चिकित्सक (डाक्टर) वहाँ उपस्थित रहता। वह बहुत आश्चर्य करता, कि आप कुछ खाते भी नहीं। पानी को पीकर सब निकाल देते हैं जीते कैसे हैं ? इसे भगवान् ही जानता है।

तीसरे दिन मुझे अंगरेजी भाषा में एक अभियोग पत्र दिया गया। मैंने उसे यह कहकर लौटा दिया कि मुझे हिन्दी में अभियोग पत्र मिलना चाहिये।

हमारे संघ के कुछ कलहोपजीवी (वकील) बन्धु आये। उन्होंने बताया हमने प्रयाग के उच्चन्यायालय से निवेदन किया है, कि आपकी गिरफ्तारी अवैध है। सम्भव है आपको न्यायाधीश प्रयाग उच्चन्यायालय में बुलावें।

जेल में सरकारी अधिकारियों के प्रेषित कुछ बन्धु भी आये, कुछ नेता भी आये, आना तो सभी चाहते थे, किन्तु सब लोग जेल के द्वार से ही सम्मान करके लौट जाते जिनकी स्थानीय अधिकारियों तथा केन्द्रीय मन्त्रियों तक पहुँच थी, वे उनकी अनुमति लेकर मिलने आते। मथुरा जेल में बड़े ही सुखसे अनशन के दिन कटने लगे। अब उन दिनों की याद आती है, तो हृदय में एक प्रकार की मीठी-मीठी हूक उठने लगती है।

स्थान समाप्त हो गया। अब अगले खण्ड में मथुरा से जैसे प्रयाग के उच्चन्यायालय में गये और वहाँ जाकर जैसे हमारी कारावास से मुक्ति हुई। इस प्रसंग को आगे पढ़ें।

छप्पय

जग है कारावास जीव कैदी बनि भटकै।
विषय भोग जित मिलैं तितहि यह प्रानी अटकै॥
नहीं मिलैं इत मीत सबहिँ साथी स्वारथ के।
विषय वचन नित कहैं कहैं नहिँ परमारथ के॥
निरखत नित पथ थकि गयो, परयो फंद में हौं अबहिँ।
मुक्त करोगे कब प्रभो! चकित-चकित निरखूँ तुमहिँ॥

गीता-माहात्म्य

[७]

गीतायाःसप्तमाध्यायं भक्ति मुक्ति प्रदायकम् ।
पठित्वा श्रुत्वा चैव मृताअपितरन्ति च ॥*
(प्र० द० ब्र०)

छप्पय

गीता को अध्याय सातमों सब सुखकारी ।
मृतकनि हू करि पार होहि तिनिको भय हारी ॥
नगर पाटलीपुत्र तहाँ द्विज शङ्क करए खल ।
बहु धन करि व्योपार धर्यो धरती में ज्यों मल ॥
अहि कर्यो सो मरि गयो, भयो सर्व धन लोभतें ।
सुतनि स्वप्न दै कह्यो-इक, पुत्र गयो तहँ क्रोधतें ॥

धन यदि धर्म कार्यों में लग जाय, तब तो उसका होना सार्थक है। नहीं तो जैसे सुरापानादि अन्य व्यसन हैं उसी प्रकार धन संग्रह करना एक व्यसन है। जिन लोगों को धन एकत्रित करने का व्यसन लग जाता है, वे समाज को, बन्धु बान्धवों को, पुत्र पौत्रों को भी आवश्यकता पड़ने पर धन नहीं देते । यहाँ

---

* गीता का सप्तम अध्याय भक्ति तथा मुक्ति देने वाला है इसके पढ़ने से तथा सुनने से जीवित तो तरते हैं, मृतक पुरुष भी इससे तर जाते हैं।

तक कि अपनी स्त्री के लिये तथा अपने शरीर के लिये भी व्यय नहीं करते। जोड़-जोड़ कर रखते जाते हैं, अन्त में यक्ष बनकर या सर्प बनकर उस पर बैठकर फिर भी उसे किसी के काम में आने नहीं देते। भगवान् ने धन दिया हो, तो यथेष्ट दान दे। धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला बनवावे। अन्न क्षेत्र लगवावे वापी, कूप, तड़ाग, बाग बगीचा आदि बनवावे। जिन कामों से दूसरों को का भला हो, परोपकार हो, दुखियों के दुख दूर हों, दीन अनाथों का भला हो, यही धन की शोभा है। न स्वय खाया, न दूसरों को खिलाया, निर्दयी होकर धन को जोडते गये अन्त में बिना किसी को बताये मर गये। मरते समय भी उसी में चित्त फँसा रहा, तो मरकर सर्प बनकर उसी धन पर बैठे रहना पड़ता है।

एक संन्यासी जी थे। गृह त्याग देने पर भी उनको धन संग्रह करने का व्यसन था। उनके भक्त जो कुछ चढ़ा जाते वे उसे एकत्रित करके सुवर्ण मुद्रा बनवा लेते। उन सुवर्ण मुद्राओं को वे एक कमण्डलु में रखकर जहाँ रहते थे वहाँ गाड़ते जाते थे। एक दिन उनकी मृत्यु हो गयी।

थोड़े दिनों पश्चात् लोगों ने देखा एक सर्प वहाँ आता है और वहाँ आकर अपना फण पटकता रहता है। लोगों ने उस स्थान को खोदा तो वहाँ सुवर्ण मुद्राओं से भरा कमण्डलु निकाला। इतने गृहत्यागी विद्वान् संन्यासी की भी धन के व्यसन के कारण ऐसी दुर्गति हुई, फिर जो रात्रि दिन धन कमाने में ही लगे रहते हैं, उमे धर्म कार्यों में व्यय नहीं करते, उनकी क्या दुर्दशा होती होगी, इसे तो भगवान् ही जानता है। जो धन न अपने ही लिये सुखदायी सिद्ध हुआ और न अपने सुहृद जनों

-तथा परिवार वालों के ही काम आया। वह तो केवल दुःख का ही हेतु होता है।

एक व्यक्ति था। वह भीख माँगता था। धन पैदा करने के दो ही उपाय है या तो व्यापार या भिक्षा। व्यापार मे तो लोग धन कमाते ही हैं, किन्तु भिक्षा माँग-माँगकर भी लोग लाखों रुपये एकत्रित कर लेते हैं। उस भिक्षुक ने भी भीख माँग-माँग कर सुवर्ण की चार ईंटें बनवायी। उन ईंटों को उसने कहीं जंगल में जाकर गाड़ दिया। सब की आँखें बचाकर वह नित्य ही उन ईंटों को देख आता था। किसी चोर ने बात ताड़ ली। वह चुपके-चुपके उसके पीछे चला गया। जब वह ईंटों को देखकर लौट आया, तब चोर ने चारों सुवर्ण की ईंटें तो निकाल लीं, उनके स्थान पर चार मिट्टी की पक्की ईंट गाड़ दीं।

दूसरे दिन जब वह उन ईंटों को देखने गया, तो वहाँ सुवर्ण की ईंट नहीं थी। मिट्टी की पक्की ईंटें थीं। यह देखकर वह दहाड मारकर रोने लगा। इतने में ही एक महात्मा आ गये। उन्होंने रोने का कारण पूछा। भिक्षुक ने सब बात बता दी।

महात्मा ने पूछा—वे ईंटें तुम्हें नित्य कुछ खाने को देतीं थीं क्या ?

भिक्षुक ने कहा—नही, महाराज! जड़ ईंटें खाने का क्या देंगी ?"

महात्मा ने पूछा—तो क्या देती थीं ? अन्न, वस्त्र, वाहन, फल फूल कुछ तो देती होंगी। तुम्हारे वे किस उपयोग में आती थीं। जिनके लिये तुम इतने दुखी हो रहे हो ?"

भिक्षुक ने कहा—"देती तो कुछ नहीं थीं। किसी उपयोग में भी नहीं आती थीं। नित्य प्रति देख लेते थे।"

महात्मा ने कहा—"जब केवल देखने के ही काम में आती थीं, तब तो जैसे सुवर्ण की देखीं वैसे ही ये देखों। इन्हें ही देख कर सन्तोष कर लिया करो।"

बात यह है, कि कृपणों का धन केवल देखने को ही होता है, कुछ अपने काम में नहीं आता। कोई शारीरिक सुख भी नहीं देता, नष्ट होने पर दुःख का कारण बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भागवत् के सातवें अध्याय का महात्म्य सुनाता हूँ, जिसे पार्वती जी के पूछने पर शिवजी ने तथा लक्ष्मीजी के पूछने पर भगवान् विष्णु ने सुनाया था।

पूर्व दिशा में एक पाटलिपुत्र नाम का अत्यन्त ही समृद्ध शाली नगर था। उसमें बहुत से धनिक व्यापारी निवास करते थे। उसी नगर में शङ्कुकर्ण नाम का एक ब्राह्मण रहता था। यह नामका ही ब्राह्मण था। ब्राह्मण पने के जो सद्गुण होते हैं, वे उसमें एक नहीं थे। उसने वैश्य वृत्ति का आश्रय ले रखा था। वह भाँति-भाँति की वस्तुओं का व्यापार किया करता था। व्यापार करके उसने बहुत सा धन कमाया, किन्तु उस धन से वह न तो देवताओं का पूजन ही करता और न पितरों का श्राद्ध तर्पण ही। कोई अतिथि उसके द्वार पर आ जाते तो भोजन कराना तो पृथक् रहा वाणी से भी उनका सत्कार न करता था। परोपकार में एक पैसा भी व्यय न करता। हाँ जिन राजाओं और राज कर्मचारियों से उसका कार्य सधता, उनका वह बड़े ठाठ बाठ से सत्कार करता। उनके लिये अच्छे-अच्छे पदार्थ बनवा-बनवाकर उन्हें भोज देता। उसकी मान्यता थी कि राजकर्मचारियों को एक पैसे का खिलायेंगे, तो उनके द्वारा दश पैसे का लाभ उठायेंगे। यह भोज भी उसके व्यापार का ही एक अंग था।

उसी नगर में एक बड़े ही त्यागी, तपस्वी सुशील गुणी दूसरे ब्राह्मण थे। वे बड़े संयमी थे। नित्य नियम से वे गीता जी के सातवें आध्याय का पाठ किया करते, किसी का परिग्रह ग्रहण न करते तथा आचार-विचार से रहते थे। ब्राह्मण के नाते वे शङ्कुकर्ण से कहा करते—अरे, क्यों व्यर्थ में पाप बटोर रहा है। कुछ दान धर्म कर जिससे परलोक बने। पूरे गीता का पाठ न कर सके तो कम से कम सातवें अध्याय का तो पाठ किया ही कर, किन्तु इसे गीता पाठ का अवकाश कहाँ था। इसे तो हर समय पैसा-पैसा बस पैसा चाहिये। माई न भैया, सबसे बड़ा रुपैया" यही इसका मूल मन्त्र था।

तीन विवाह तो इसके हो चुके थे। उनसे इसके कई पुत्र पौत्र भी थे, फिर भी इसकी इच्छा चौथा विवाह करने की हुई। अतः पैसे के बल पर एक चौथा विवाह तै कर लिया। अपने पुत्र पौत्रों बन्धु बान्धवों के साथ यह चौथा विवाह करने जा रहा था। मार्ग में एक स्थान पर ठहरे। अँधेरी रात्रि थी। रात्रि में यह थका हुआ सो रहा था, कि सहसा किसी सर्प ने आकर इसकी बाँह में काट लिया। इसके बन्धु बान्धवों ने झाड़ने फूंकने वालों को विष उतारने वालों को तथा बहुत से चिकित्सकों को बुलाया किन्तु कोई इसे बचा नहीं सका। अन्त में इसके प्राण पखेरू शरीर रूपी पिंजड़े का परित्याग करके उड़ गये। मर कर वह प्रेत हुआ। बहुत दिनों तक वह प्रेत योनि में भटकता रहा। इसका चित्त तो भूमि में गड़े धन में आसक्त था, अन्त में इसने सर्प योनि में जन्म लिया। चित्त तो इसका धन में ही लगा हुआ था; अतः धन पर जाकर बैठ गया कि इस धन का कोई और उपभोग न कर सके।

सर्प योनि में इसे बहुत कष्ट होता था, एक दिन स्वप्न में

अपने पुत्रों से कहा—"मैं सर्प योनि में अत्यन्त क्लेश सह रहा हूँ, किसी प्रकार मेरा उद्धार करो।"

प्रातःकाल सभी ने परस्पर में स्वप्न की बात सुनायी। उन पुत्रों में से उसका एक मँझला पुत्र था जिसका नाम शिव था। उसने सोचा—"जैसे भी हो तैसे पिताजी का सर्प योनि से उद्धार करना चाहिये।" यही सोचकर वह कुदाल हाथ में लेकर चला। उसे यद्यपि गड़े धन का स्थान मालूम नहीं था, तथापि चिन्हों के द्वारा खोजता-खोजता उस स्थान पर पहुँच गया। वहाँ उसने एक सर्प के रहने की बाँबी देखी। शिव कुदाल से उस बाँबी को खोदने लगा। उसने थोड़ी ही दूर खोदा होगा, कि उसे एक बड़ा ही भयंकर सर्प वहाँ दिखायी दिया। अपने घर को किसी के द्वारा खोदा जाते देखकर सर्प अत्यन्त कुपित हुआ, वह फुँफकार छोड़ते हुए बोला—अरे, दुष्ट ! तू कौन है ? किसने तुझे भेजा है, तू मेरे घर को क्यों खोद रहा है ?

तब हाथ जोड़ कर शिव ने कहा—' पिता जी ! मैं आपका पुत्र शिव हूँ, रात्रि में हम सब भाइयों को स्वप्न हुआ था, उसी स्वप्न के अनुसार मैं तो कुतूहलवश यहाँ आया हूँ, कि आपका गाड़ा हुआ सुवर्ण मिल जाय।"

सर्प ने कहा—"यदि मेरा सच्चा पुत्र है तो मुझे सर्प योनि से छुड़ा दे। इस योनि में मैं अत्यन्त कष्ट पा रहा हूँ।"

शिव ने पूछा—' पिताजी ! आपका उद्धार कैसे होगा ? कहें तो हम आपके लिये गया में जाकर श्राद्ध कर आवें ?"

सर्प ने कहा—"भैया ! इस धन के लोभ से ही मुझे सर्प योनि में जन्म लेना पड़ा है। मेरा पाप ऐसा है कि वह गया श्राद्ध तथा जप, तप, दान धर्म से मिटने वाला नहीं।"

शिव ने पूछा—"तो पिताजी ! जिस कार्य से आपका उद्धार

हो, उसे ही मुझ बताइये। आप जो बतावेंगे हम वही कार्य करेंगे।"

पुत्र के ऐसे पूछने पर उसे अपने सम्बन्धी ब्राह्मण की बात याद आ गयी, जो उसे सदा गीता के सातवें अध्याय का पाठ करने का उपदेश दिया करते थे। अतः वह बोला—"बेटा शिव! तुम सब भाई मिल कर एक काम करो। मेरा श्राद्ध कर्म बहुत ही धूम-धाम से करो। श्री मद्भागवत् गीता के सातवें अध्याय का निरन्तर पाठ करने वाले उन ब्राह्मण को बुलाकर मेरे श्राद्ध के दिन सातवें अध्याय के पाठ करने वाले ब्राह्मण को श्राद्धा पूर्वक भोजन कराओ। और जितने भी वेदपाठी वेदज्ञ ब्राह्मण मिल सकें उन्हें भी श्राद्धा पूर्वक भोजन कराओ, शक्ति के अनुसार खूब दान दक्षिणा दो। ऐसा करने से मेरा उद्धार होगा।"

पिता की ऐसी आज्ञा पाकर शिव अपने भाइयों के समीप गया, उसने पिता की कही हुई सब बातें अपने भाइयों से कही। सब ने मिलकर मन्त्रणा की। वे सब भी पिता की उद्धार चाहते थे। अतः सभी ने बड़े उत्साह के साथ पिता का श्राद्ध किया। बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मण एकत्रित किये। उन सबसे श्री मद्भागवत् गीता के सातवें अध्याय का पाठ कराया। जो ब्राह्मण नित्य गीता जी के सातवें अध्याय का पाठ करते थे, उनकी सबसे अधिक सेवा की। सबको वित्त शाठ्य त्याग कर यथेष्ठ दान दक्षिणा दी। पिता जी ने जितना बताया था उससे कई गुना अधिक श्राद्ध कर्म में दान किया। ऐसा करने से उनके पिता सर्प योनि त्याग कर दिव्य रूप धारण करके देवता बन गये। वे अपने पुत्रों पर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और गड़े हुए धन को सब पुत्रों में बराबर-बराबर बाँट दिया। धन करोड़ों की संख्या में

था, वे सभी पुत्र सदाचारी थे, अतः उन्होंने अपने पिता की भाँति उस धन को जोड़ा नहीं। उसे दान धर्म तथा शुभ कर्मों में व्यय कर दिया। पिता के नाम से धर्मशाला बनवा दी। बहुत से बापी, कूप, तड़ाग खुदवा दिये, बाग बगीचा लगवा दिये। देव मन्दिरों का निर्माण करा दिया। बहुत से अन्नक्षेत्र खुलवा दिये। सदावर्त लगवा दिया।

वे सब लड़के श्रीमद्भागवत् गीता के सातवें अध्याय के पाठ का फल प्रत्यक्ष देख चुके थे, अतः उन्हें उस पर बड़ा विश्वास हो गया। वे नियमित रूप से नित्य प्रति अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के सहित सातवें अध्याय का पाठ किया करते थे। परस्पर में उसी की चर्चा किया करते, विद्वानों से इसी के सम्बन्ध में पूछा करते थे। श्रद्धा भक्ति के साथ ऐसा करने से उन सब की सद्‌गति हो गयी। वे सबके सब मुक्ति पद के अधिकारी बन गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में श्रीमद्भागवत् गीता के सप्तम अध्याय का महात्म्य आपसे कहा। अब आगे आप आठवें अध्याय के महात्म्य को और सुनें।"

छप्पय

कहै सर्प तू कौन स्वप्न सुत बात बताई।
तबहिं सर्प ने कही देहु अहि योनि छुड़ाई॥
गीता को अध्याय सातवों पढ़ै विप्र जो।
ताकूँ देउ जिमाइ श्राद्ध दिन पाठ करै सो॥
दान धरम अरु पाठ मिलि, द्विज पुत्रनि सब कछु कर्यो।
सुनि महात्म्य सप्तम सुखद, प्रेम सहित तिनि हिय भर्यो॥

गीता माहात्म्य

[८]

किंतद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥*
(श्री भग० गी० ८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

अष्टम जो अध्याय पढ़ै गीता को नित प्रति ।
आधो अथवा एक पढ़त इश्लोक होहि गति ॥
आमर्दकपुर माहिँ भावशर्मा द्विज खल मति ।
ताड़ी पीवै नीच चोर निंदित वेश्या पति ॥
ताड़ी पी मरि ताड़ बनि, खड़ो वृक्ष वन सघन जहँ ।
ब्रह्मराक्षस नारि संग, सघन छाँह लखि बसहि तहँ ॥

व्याकरण शास्त्र का सिद्धान्त है एक शब्द भी स्वर से वर्ण से भली भाँति शुद्ध-शुद्ध उच्चारण किया जाय, तो वह शब्द इस लोक में तथा परलोक में समस्त कामनाओं को देने वाला होता है। सिद्ध मन्त्र का प्रयोग जानकर करो या अनजान में उसका सुफल अवश्य होगा। एक राजकुमार किसी ऋषि के आश्रम में रहता था। उसकी माता विपत्ति पड़ने पर मन्त्री के साथ भागकर

---

* हे पुरुषोत्तम ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? और अधिदैव किसका नाम है ?

ऋषियों की शरण में रहने लगी थी। आश्रम के लड़के मन्त्री को चिड़ाने के लिये उसे 'क्लीव' कहा करते थे। राजकुमार भी उनकी देखा देखी कहने लगा। उस पर क्लीव तो आया नहीं क्लीं क्लीं कहने लगा। क्लीं भगवती सरस्वती देवीजी का बीज मन्त्र है। इससे देवीजी प्रसन्न हो गयीं और उसके सब कार्यों में सहायक बनीं। यद्यपि राजकुमार ने मन्त्र भाव से उसका उच्चारण नहीं किया था, फिर भी शब्द का प्रभाव तो होना ही चाहिये था।

अजामिल ने अपने पुत्र नारायण को मरते समय पुकारा था, तो भी भगवान् नारायण के दूत नामका साम्य होने से उसकी रक्षा के निमित्त आ गये और अजामिल को यमदूतों के पास से छुड़ा लिया।

किसी को अनजान में स्वभाव वश ही "साला" कह दो। यद्यपि आपने गाली की भावना से इस शब्द को नहीं कहा स्वभाव वश अभ्यास के कारण मुख से निकल गया, फिर भी सुनने वाला कुपित हो जायगा, आपकी खोपड़ी फोड़ने को तैयार हो जायगा। शब्द का प्रभाव ही ऐसा है।

नागों का नियम होता है, कि जब तक उनसे कोई काटने को न कहे, तब तक वे काटते नहीं। कर्कोटक नाग राजा नल को काटकर कुरूप करना चाहता था, जिससे राजा कलियुग के अत्याचारों से बच सके। कर्कोटक राजा को काटकर उनका उपकार करना चाहता था, किन्तु जब तक राजा काटने को न कहें वह अपने नियमानुसार उन्हें काट नहीं सकता था। इसके लिये उसने एक उपाय सोचा। राजा से कहा आप एक से लेकर गिनती गिनते जाइये और पैर बढ़ाते जाइये। राजा ने एक-एक पग पर एक-एक गिनती गिननी आरम्भ की। एक, दो, तीन,

चार, पाँच, छँ, सात, आठ, नौ और जहाँ राजा ने 'दश' कहा वहीं कर्कोटक ने राजा नल को काट लिया।

संस्कृत में 'दश' शब्द का अर्थ दश गिनती भी होता है और 'दश' का अर्थ काटो भी होता है। कर्कोटक ने यही अर्थ लगा लिया कि राजा कह रहा है, मुझे काट लो। यद्यपि राजा ने तो गिनती गिनी थी। मुझे काट लो इस भाव से 'दश' नहीं कहा था। फिर भी शब्द का प्रभाव तो होता ही है। शब्द का प्रभाव महान् होता है। इसीलिये शब्द का उच्चारण बडी सावधानी से करना चाहिए। अशुद्ध अमंगल शब्दों का भूल में भी उच्चारण न करना चाहिये। सदा मंगलमय शब्दों का, शुभ शब्दों का, कल्याणकारी शब्दों का ही उच्चारण करना चाहिये। जिनके मुख से भूल से भी अमंगलमय कल्याणकारी शब्द निकल जाते है, उनका भी मगल ही होता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मै आपको श्रीमद्भगवद्गीता के अष्टम अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, जिसे पार्वतीजी के पूछने पर शिवजी ने तथा लक्ष्मी जी के पूछने पर विष्णु भगवान् ने सुनाया था।

दक्षिण देश आमर्दक नाम का एक सुप्रसिद्ध समृद्धशाली नगर था। उसी नगर में भाव शर्मा नाम का एक ब्राह्मण निवास करता था। वह केवल जन्म का ही ब्राह्मण था। उसके समस्त कार्य नीचातिनीच पुरुषों के जैसे थे उसने एक कुलटा वेश्या स्त्री को अपने घर में रख रखा था। उसे ही वह अपनी पत्नी कहता था। वह अभक्ष्य पदार्थों का पान करता था अपेय पादर्थों का पान करता था तथा अगम्या स्त्रियों के साथ गमन करता था। उससे कोई भी दुष्कर्म ऐसा बचा नहीं था, जिसे वह करता न हो सुरापान करके वह जूआ खेलता था। जूए मे जो उसे धन मिल जाता,

उससे वह मांस मदिरा का सेवन करता, परस्त्रीगमन करता। यदि हार जाता तो धन के लिये चोरी करता किसी की वस्तु को उठा लाता, किसी के बालक को धन के लोभ से चुरा कर छिपा देता, फिर उससे मनमाना धन लेकर लौटाता रहता। इस प्रकार वह सदा पाप कर्मों में ही लगा रहता।

एक दिन मदिरा पीने वालों की गोष्ठी हुई। एक से व्यसन वाले जब बहुत से एकत्रित होते हैं, तो सभी अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते हैं। उन पियक्कड़ों में बाजी लगी, देखें कौन सबसे अधिक ताड़ी पीता है। यह भावशर्मा नीच तो था ही प्याले के ऊपर प्याले चढ़ाने लगा। इतनी अधिक ताड़ी पी गया, कि वह उसे पचा न सका। अजीर्ण हो जाने से उसे अत्यन्त ही कष्ट हुआ और उसी कष्ट में उसकी मृत्यु भी हो गयी।

मरते समय प्राणी के मनमे जैसी भावना होती है, वैसा ही उसे अगले जन्म में शरीर मिलता है। भावशर्मा ने ताड़ के नीचे बैठकर ताड़ी पीते-पीते ही शरीर का परित्याग किया था। अतः ताड़ का ध्यान करने से अन्त में वह भी बड़ा भारी सघन ताड़ का ही वृक्ष बना। घोर जगल में ताड़ बना हुआ, वह अपने दिन काटने लगा।

भावशर्मा जिस वन में ताड़ बनकर खड़ा था। उसी के समीप एक दूसरा नगर था। उस नगर में कुशीबल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। कुशीवल वेदशास्त्रों का ज्ञाता था। सभी शास्त्रों का उसने विधिवत अध्ययन किया था और वह ब्राह्मणों के सदाचार का भी पालन करता था। उसकी स्त्री का नाम कुमति था। उसका जैसा नाम था, वैसे ही उसमें दुर्गुण भी थे, वह अत्यन्त खोटे विचारों वाली थी। वह अपने पति को अधिकाधिक धन लाने को प्रेरित किया करती थी। दान लेना ब्राह्मण के

लिये आवश्यक नहीं है। जो दान प्रतिग्रह से ब्राह्मण बचा रहता है, वही महान् होता है। दान के बिना कार्य न चले तो अन्नदान, गोदान, भूमिदान आदि ही निर्वाह भर के लिये लेवे। निन्दित दान कुदानों को–जैसे कालपुरुष का दान, भैंस का दान, घोड़े का दान या गंगा किनारे दान–इन्हें कभी न ले। जो ऐसे दानों को लेता है, वह उन कुदानों के प्रभाव से कितना भी भारी विद्वान् क्यों न हो उसे ब्रह्मराक्षस आदि निन्दित योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

कुशीवल ब्राह्मण यद्यपि ब्राह्मण वेद वेदाङ्गों का ज्ञाता था, फिर भी अपनी स्त्री की प्रेरणा से कालपुरुष का, भैंस, घोड़ा तथा लोहा आदि अन्य बुरे दानों को भी स्त्री के साथ लेने लगा। अन्त में उसे ग्राह्य अग्राह्य का विवेक ही न रहा। जो भी उसे जो भी वस्तु दान मे दे देता उसी को ग्रहण कर लेता। उस दान की वस्तुओं में से दूसरे ब्राह्मणों को भी कुछ नहीं देता। सबके सबको अपने ही उपयोग में ले लेता। अन्त में वे दोनों मरकर ब्रह्म-राक्षस हुए।

ब्रह्मराक्षसों को अपनी पुरानी विद्या भी स्मरण रहती है, वे धारा प्रवाह रूप से संस्कृत बोल सकते हैं। विद्वानों के प्रश्नो का भी उत्तर दे सकते है। वे दोनों पति-पत्नी ब्रह्मराक्षस बनकर उसी ताड़ वृक्ष को सघन छाया मे रहने लगे जो मरकर भावशर्मा ताड़वृक्ष बना था। भूख-प्यास से पीड़ित होकर दोनो इधर-उधर भटकते, नाना कष्टों को पाते तथा अपने पूर्वकृत पापों का स्मरण करके अत्यन्त ही दुःख के साथ समय बिताने लगे।

एक दिन इस ताड़ की सघन छाया में ब्रह्मराक्षस बने ये दोनों पति-पत्नी बैठे थे। पत्नी ने अत्यन्त दुखित मन से अपने पति से पूछा—"नाथ! इन दुःखों का कभी अन्त भी होगा कि

नहीं ? इस अधम ब्रह्मराक्षस योनि से किसी प्रकार छुटकारा भी होगा कि नहीं ? कैसे हमारी इन दुःखों से इस अधमयोनि से मुक्ति हो सकती है ?"

तब ब्रह्मराक्षस बने उस ब्राह्मण ने कहा—"देवि ! ब्रह्मविद्या के उपदेश के बिना, अध्यात्म तत्त्व के ज्ञान के बिना तथा कर्म-विधि के परिज्ञान के बिना इन संकटों से छूटना असंभव है। जब तक ब्रह्म का, अध्यात्म का और कर्म का ज्ञान न हो तब तक मुक्ति नहीं।"

यह सुनकर उसकी स्त्री ने संस्कृत में पूछा—"किं तद्ब्रह्म ? किमध्यात्मं ? किं कर्म ? पुरुषोत्तम !" अर्थात् हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है और कर्म क्या है ?"

उसके मुखसे "किं तद्ब्रह्म किमध्यामं किं कर्म पुरुषोत्तम" यह आधा श्लोक स्वत: ही प्रश्न के रूप में निकल पड़ा। किन्तु इस आधे श्लोक की शब्द शक्ति तो देखिये। इस आधे श्लोक को सुनते ही वह ताड़ का इतना भारी वृक्ष तड़तड़ा कर नीचे गिर गया और उसमें से एक दिव्य पुरुष निकल पड़ा।

ब्रह्मराक्षस ने पूछा—"भाई ! तुम कौन हो ?"

उसने कहा—ब्रह्मन् ! मैं भावशर्मा नाम का एक अत्यन्त ही नीच ब्राह्मण था। अपने दुष्कर्मों के कारण मुझे यह ताड़ वृक्ष की अधम योनि प्राप्त हुई। आपकी पत्नी ने जो यह मन्त्र पढ़ा उसी के प्रभाव से मेरी यह अधम योनि छूट गयी और मैं दिव्यपुरुष बन गया। अब मैं इसी मन्त्र का निरन्तर जप किया करूँगा।"

वास्तव में यह श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय का आधा श्लोक था। उसी के प्रभाव से भावशर्मा की वृक्षयोनि छूट गयी और वह निष्पाप होकर इसी मन्त्र का जप करने लगा।

इधर वृक्ष के पतन के साथ ही आकाश से दिव्य

आया और वे दोनों पति-पत्नी ब्रह्मराक्षस के शरीर को त्यागकर दिव्यरूप धारण करके उस विमान पर चढ़कर स्वर्ग के लिये चले गये।

भावशर्मा का शरीर दिव्य तथा निष्पाप हो गया था। उसे अपने पूर्वजन्मकृत कर्मों पर बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ। वह उस आठवें अध्याय के आधे चरण का जप करते-करते मुक्त-दायिनी काशीपुरी में चला गया और वहाँ जाकर उसने घोर तपस्या आरम्भ करदी। उसकी ऐसी तपस्या से क्षीरसागर में— अपनी ससुराल में—सुख से सोते हुए श्रीविष्णु भगवान् बड़ी व्यग्रता के साथ उठकर बैठ गये।

अपने प्राणनाथ को शेषशैया से सहसा उठते देखकर उनकी अर्धाङ्गिनी भगवती लक्ष्मीजी ने पूछा—प्राणनाथ ! आप असमय में सहसा क्यों उठकर बैठ गये ? आपका व्यग्रता के साथ उठकर चारों ओर चकित-चकित दृष्टि से देखने का कारण क्या है ?"

भगवान् ने कहा —देवि ! भगवान् भूतनाथ की मुक्तिप्रदायिनी काशीपुरी में एक ब्राह्मण भक्तिभाव से परिपूर्ण होकर अत्यन्त ही कठोर तपस्या कर रहा है। वह जितेन्द्रिय बनकर इन्द्रियों को विषयों से रोककर गीता के आठवें अध्याय के केवल आधे श्लोक का निरन्तर जप कर रहा है, मैं उसी की तपस्या का फल देने के लिये व्यग्र हो उठा हूँ।"

लक्ष्मीजी ने कहा—तो भगवन् ! इसमें व्यग्र होने की क्या बात है। उस जितेन्द्रिय तपस्वी जापक को आप कौन-सा फल देंगे ?"

भगवान् ने कहा—मैं उसे सब कुछ देने को तैयार हूँ। मैं उसे अकेले को ही नहीं, उसके वंश में जितने भी लोग नरक में पड़े

दुःख भोग रहे है, उन सबको अपने वैकुण्ठ धाम को प्राप्त कराऊंगा मुक्ति पद का तो वह उत्तराधिकारी ही है।"

लक्ष्मीजी से ऐसा कहकर भगवान् विष्णु स्वयं उस ब्राह्मण के समीप गये। उसे अपने स्वयं साक्षात् दर्शन दिये उसे संसार बन्धनों से सदा के लिये विमुक्त बनाकर कुटुम्ब सहित अपना दिव्यधाम प्रदान किया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह मैंने श्रीमद्भगवत्गीता के आठवें अध्याय के आधे श्लोक का माहात्म्य कहा। जब आधे श्लोक के जप से भावशर्मा सपरिवार तर गया, तो जो पूरे आठवें अध्याय का श्रद्धाभक्ति के सहित जितेन्द्रिय होकर पारायण करेंगे, उनकी सद्गति मे तो, सन्देह करने की कोई बात ही नहीं। पाठ पूजन में निष्ठा ही प्रधान है, विशुद्ध भाव से सच्ची निष्ठा से जो पाठ करते हैं, वे फिर लौटकर संसार में नहीं आते। यह आठवें अध्याय की महिमा है, अब गीता के नवमें अध्याय का माहात्म्य मैं आगे वर्णन करूंगा।

छप्पय

पत्नी पूछे—प्रभो! छुटैं कब अधम योनि तैं।
विप्र कहे—अध्यात्म, ब्रह्म अरु करम ज्ञान तैं॥
ब्रह्म कहा? अध्यात्म-कहा अरु करम बताओ।
गीता को सुनि मन्त्र ताड़ गिरि विप्र बनायो॥
सुनि आधे श्लोक कूँ, ब्रह्मराक्षस ताड़ तरु।
भई सुगति तीनोंनि की, संग कुटुम परिवार अरु॥

भगवान् अव्यक्त तथा सर्वज्ञ है

[१३]

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको ममजमव्ययम् ॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० २५, २६ श्लोक).

छप्पय

सबकूँ दीखतु नाहिं योगमाया में छिपिकें ।
घूंघट मारे रहूँ प्रबल माया के पटमें ॥
नहीं सोहुँ प्रत्यक्ष न सम्मुख सबके आऊँ ।
दब्यो ढक्यो सो रहूँ अङ्ग अपने न दिखाऊँ ॥
जनम मरन तें रहित अज, अविनाशी नहिं मानते ।
जनम लेउँ फिरि-फिरि मरूँ, मूरख ऐसो जानते ॥

---

* मैं सबके सम्मुख प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि मैं अपनी योग माया से छिपा रहता हूँ। ये मूढ लोग मुझ अज अव्यय को तत्व से जानते नहीं ॥२५॥

हे अर्जुन ! भूत भविष्यत और वर्तमान में हुए और होने वाले सब भूतों को मैं ही जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई भी संसारी जन नहीं जानता ॥२६॥

श्री भगवान् के स्वधाम पधारने पर जब बद्रीनाथ जाते हुए विदुर जी की उद्धव जी से भेंट हुई थी, तब विदुर जी के कुशल पूछने पर उद्धव जी ने बड़े कष्ट के साथ विलख कर विदुर जी से कहा था—विदुर जी ! आप किनकी कुशल पूछ रहे हैं। जो समस्त कुशलों के एक मात्र आलय है, वे श्री श्याम सुन्दर जी तो स्वधाम पधार गये। मुझे श्री भगवान् के सम्बन्ध में तो कुछ कहना नहा हैं। वे सब समर्थ है, जा करते हैं सब उचित ही करते है। मुझे तो दुःख इन संसारी लोगों के लिये है और सब लोगो की अपेक्षा इन हतभागी यादवो के लिये और भी दुःख है जो निरन्तर साथ रहने पर भी श्री श्याम सुन्मर जी के स्वरूप को तत्वतः पहिचान हा न सके। समुद्र में से ही अमृतमय चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, जिस समय चन्द्रमा समुद्र में रहता था, तब समुद्र मे रहने वाली मछलियाँ चन्द्रमा को भी एक चमकीला मत्स्य ही समझती थी। वे सोचती थी, यह चन्द्रमा भी हमारी जाति का एक मत्स्य जन्तु है। हम से इसमे कुछ तेज अधिक है नही तो हम और ये एक ही जाति के है। इसी प्रकार भगवान् यादवों के बीच में रहे। यादव सब उनके लौकिक अलौकिक कृत्यों को प्रत्यक्ष देखते थे। तो भी उन समस्त विश्व के एकमात्र आश्रय सर्वान्तिर्यामी श्री कृष्ण को वे एक यादव ही समझते थे। वे सोचते थे—"इनमे हम से कुछ बल पराक्रम अधिक है, किन्तु हैं तो ये हमारे ही भाई बन्धु। वे सब भगवान् की जगन्मोहिनी माया से विमोहित हो गये थे। भगवान् उनके साथ रहते हुए भी उनसे तत्वतः छिपे ही रहे।

वैसे भगवान् ने अपना महान ऐश्वर्य प्रकट न किया हो, सो बात नहीं। कंस के कारागार में चतुर्भुज रूप से शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए प्रकट हुए। अपनी योगमाया को

मथुरा भेजकर आप गोकुल में जा विराजे। अभी ६ दिन के भी पूरे नहीं हुए थे,कि ६ कोस लम्बी चौड़ी पूतना को मार डाला शकटासुर, तृणावर्तादि असुरों को मार गिराया। यमलार्जुन का उद्धार किया, ब्रह्माजी जब बछड़ों और ग्वाल वालों को हर ले गये, तब आपने उतने ही रूप धारण करके गोपियों और गौओं को सुखी बना कर प्रेम दान दिया। कलिया नाग को नाथ कर नागरिकों को सुखी बनाया। प्रलम्ब, बक, अघ, धेनुकादि प्रबल असुरों का संहार किया। सात दिनों तक कनिष्ठिका उंगली पर इतने भारी गोवर्धन पर्वत को धारण किये रहे। इन्द्र का मान मर्दन किया, वरुण लोक से नन्द जी को ले आये। कुबेर के दूत शंखचूड़ का उद्धार किया। यमलोक में स्वयं जाकर मृतक गुरु पुत्र को लाकर अपने गुरु को दिया। इस प्रकार असंख्यों अलौकिक अतिमानुषी लीलायें कीं किन्तु फिर भी हतभागी लोग भगवान् को तत्वतः नहीं जान सके। क्योंकि भगवान् जो भी कुछ लीला करते है, योगमाया के पट से अपने मुख को ढककर करते हैं। नई बहू की भाँति घूँघट मारे-मारे ही सब काम करते हैं। नई बहू वैसे सब खाती पीती है, किन्तु पुरुषों को पता नहीं चलता कब खा लेती है, कब नहा लेती है इसी प्रकार भगवान् योगमाया के परदे से छिप-छिपकर सब कार्य करते हैं। मूर्खों की वात दा जाने दो अच्छे-अच्छे ऋषि महर्षि, ब्रह्मादिक देव भी उनकी लीलाओं से मोहित होकर उलटा सीधा कार्य करने लगते हैं। योगमाया भी मेरी चेरी ही है, मेरे संकल्प के वशीभूत रहने वाली है। उसकी साड़ी में छिपकर मैं चाहें जो भी करूँ, लोग मेरे यथार्थ रूप से अपरिचित ही बने रहते हैं। मैं सबके सम्मुख प्रकट नहीं होना चाहता। सब मुझे चाहते भी नहीं। संसारी प्राणी मुझसे प्रेम न करके मेरी माया से प्रेम करते हैं,

मुझे न चाहकर मेरी माया को चाहते हैं। मेरी लीलाओं से मोहित न होकर माया विमोहित बने रहते हैं। माया देवी ने सब के अन्तः करण में ऐसा परदा डाल रखा है, कि प्राणी सब कुछ देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता है, आँखें रहते हुए भी अन्धा बना रहता है। जैसे रंगमंच पर झीने परदे में छिपा सूत्र धार तो सभी दर्शकों को देख लेता है, किन्तु उसे केवल उसके कृपा पात्रों के अतिरिक्त अन्य दर्शक देख ही नहीं पाते। भगवान् भी सूत्र-धार हैं, नटनागर हैं, मायावी है। जब लोक में सर्व साधारण बाजीगर की माया का ही संसारी लोग पार नहीं पा सकते, तब भगवान् की माया का पार प्राणी उनकी कृपा बिना कैसे पा सकता है। अतः भगवान् अपने कृपा पात्र भक्तों के सम्मुख तो प्रकट हो जाते हैं, अन्य लोगों के सम्मुख योगमाया का घूँघट मारकर घूँघट को तिकोना करके घूँघट की ओट में से माया की चोट करते हुए लोगों को लोट-पोट करते रहते हैं। अपने आप तो वे सब कुछ जानते हैं, किन्तु संसारी लोगों को अनजान बनाये रहते हैं. यही मायावी की माया है, महान् बाजीगर का रहस्यमय खेल है। इसी खेल को देखने को लोगों में ठेलम ठेल मची रहती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि आपका इतना भारी वैभव, अलौकिक कर्म, इतना ऐश्वर्य देखते हुए भी अविवेकी पुरुष ही सही उनकी माया से मोहित क्यों हो जाते हैं? आपको तथा आपके अन्य अवतारों को अज्ञ लोग साधारण जीव क्यों समझने लगते हैं? इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन मैं घूँघट मारे-मारे ही सब कार्य करता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! कहाँ घूँघट मारे रहते हो, हमने तो आपको कभी घूँघट मारे देखा नहीं। सदा मुँह खोले

ही सब कार्य करते हो। मेरे रथ को क्या आप घूँघट मारकर हाँक रहे हो ?

भगवान् ने कहा— 'भाई अर्जुन ! तुम बात को समझे नहीं। यह वस्त्र का घूँघट नहीं। अपनी योगमाया का घूँघट मारे रहता हूँ, इसीलिये सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकट नहीं होता। योगमाया का घूँघट न मारे रहता होता, तो क्या मुझसे सूतों के करने योग्य निन्द्य कार्य को कराते ? मुझसे रथ हँकवाते।"

अर्जुन ने कहा—आप मेरा रथ हांक रहे हैं, यह तो आपकी मेरे ऊपर अनुग्रह है, कृपा है। किन्तु मूढ़ पुरुष भ्रम में क्यों पड़ जाते हैं ?

भगवान् ने कहा—"मैं ही अपने संकल्प द्वारा योगमाया को प्रेरित कर देता हूँ, इससे योगमाया से समावृत होने के कारण मूढ़ लोग मुझे तत्वतः पहिचान नहीं सकते। जिसे मैं अपना ज्ञान कराना चाहता हूँ, ऐसे भक्त के सम्मुख प्रकट भी हो जाता हूँ। इससे पूर्व तुम ही मेरे यथार्थ रूप को कब जानते थे। तुम मुझे अपने मामा का पुत्र, सखा, सुहृद् तथा सम्बन्धी ही मानकर प्रेम करते थे। अब मेरी कृपा से ही तुम मेरे शरणापन्न हुए और मेरे यथार्थ रूप को समझने में समर्थ हुए।"

अर्जुन ने पूछा—"आपकी योगमाया क्या कार्य करती है।"

भगवान् ने कहा—"मेरी योगमाया यथार्थ वस्तु को ढक लेती है और जो नहीं है, उसे प्रकाशित कर देती है।" इसलिये संसारी लोग मेरे यथार्थ रूप को नहीं पहिचान सकते। मैंने अब तक क्या किया है, क्या कर रहा हूँ और आगे क्या करना चाहता हूँ, इन बातों को माया मोहित प्राणी नहीं जान सकते ?"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! संसारी लोग न जानें, आप तो सब जानते ही होंगे ?"

भगवान् ने कहा—"मेरे सर्वज्ञ होने में तो कोई सन्देह नहीं। अब तक क्या हो चुका है इन सब बातों को मैं भली-भाँति जानता हूँ, अब हो क्या रहा है, यह भी मेरी बुद्धि के बाहर की बात नहीं है। और आगे क्या-क्या होने वाला है इन भविष्य की घटनाओं को मैं उसी प्रकार देख रहा हूँ, जिस प्रकार हाथ पर रखे आँवले को मनुष्य चारों ओर से देखने में समर्थ होता है। मैं सभी प्राणियों के भूत, भविष्य और वर्तमान कर्मों को तथा जन्मों को जानता हूँ, किन्तु मुझे मेरे जनाये बिना कोई नहीं जानता। जब प्राणी यथार्थ रूप से मेरे तत्त्व से ही अपरिचित है तो वह मेरा भजन कैसे करेगा, इसीलिये संसारी लोग मुझसे विमुख बने रहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—ये प्राणी अविवेक को क्यों प्राप्त होते हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जो कछु पूरब भये तिनहिँ हौं पूरन जानूँ।
जो जग में है रहे तिनहिँ हौं निश्चय जानूँ॥
जो भविष्य में भूत होहिँगे तिनकी गति सब।
ज्ञान मोइ है सबहिँ भये हैं हुहैं जो अब॥
यद्यपि हौं जानूँ सबनि, मोइ न जानें अन्यजन।
जाकूँ देउँ जनाइ हौं, सो जानें होवैं शरन॥—

दृढ़व्रती पुण्यात्मा ही निर्द्वन्द्व होकर भगवान् का भजन करते हैं

[१४]

इच्छाद्वेपसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥
येपां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० २७, २८ श्लोक)'

छप्पय

जगके प्रानी सबहिँ मोह माया में भटके।
कामनि में फँसि जायँ रहें भोगनि में अटके॥
इच्छा द्वेपनि भरे भ्रमें नित आवें जावें।
विपयनि में फँसि मरें जगत सुख दुःख उठावें॥
द्वन्द्व रूप यह मोह है, सुख दुख अरु जीवन मरन।
प्राप्त अज्ञता कूँ करत, लेहिँ नहीं मेरी शरन॥

---

* हे भारत ! हे परतप ! इच्छा द्वेप स उत्पन्न तथा द्वन्द्वरूपी मोह से ससार में सभी प्राणी समोह को प्राप्त हो रहे हैं ॥२७॥

किन्तु जिन पुरुषो के पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे द्वद्व मोह से निर्मुक्त पुण्य कर्म करने वाले दृढ़व्रती मुझे ही भजते हैं ॥२८॥

स्थूल शरीर की प्राप्ति स्थूलता के ही कारण होती है। स्थूल शरीर की इन्द्रियों के द्वार बाहर की ही ओर होते हैं, अतः स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ प्रायः संसारी भोगों की ही ओर जाती हैं। इन्द्रियाँ जब बाह्य पदार्थों की ओर जाती हैं, तो उन पदार्थों को भोगने की इच्छा होती है। भोग पदार्थ तो सीमित होते हैं, प्राणियों की भोगेच्छायें निस्सीम होती हैं। भोगों का कहीं भी अन्त नहीं, जितना ही विषयों का उपभोग करोगे, भोगेच्छा उतनी ही अधिक बढ़ती जायगी। लाभ से सदा लोभ बढ़ता ही जाता है। वस्तु एक है, उसके उपभोग के इच्छावाले पुरुष अनेक हैं। सभी चाहते हैं, इसका उपभोग मैं ही करूँ, दूसरा कोई इसका उपभोग न करने पावे। दूसरा कहता है—"तुम कैसे करोगे, मैं करूँगा।"

जब एक वस्तु को प्राप्त करनेवाले अनेक हो जाते हैं और सभी उसका भोग अकेले करना चाहते हैं, तो उनमें परस्पर द्वेष हो जाता है। द्वेष उन लोगों के प्रति होता है, जो हमारी अभिलसित वस्तु का निर्बाध रूप से यथेष्ट उपभोग करते हैं। जैसे हम चाहते हैं, कि हम अच्छे भवनों में रहें, अच्छे भोग पदार्थों का उपभोग करें, अच्छे वाहनों पर चढ़ें, किन्तु भाग्यवश हम उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते, तो जो लोग इन पदार्थों का निर्बाध रूप से उपभोग करते हैं, वे चाहें हमारा कुछ भले ही अनिष्ट न करें, किन्तु ऐसे धनिकों के प्रति अधार्मिक निर्धनों का स्वाभाविक द्वेष हो जाता है। वे द्वेष के वशीभूत होकर न्याय की दुहाई देने लगते हैं। वे कहते हैं—"यह कहाँ का न्याय है, कि एक आदमी भूखा मरता रहे, दूसरा गुलछर्रे उड़ावे। एक आदमी धन के लिये लालायित रहे, दूसरा धन को पानी की भाँति बहावे, अतः

धनिकों को लूट लो, इन्हें मार दो। सबमें समता स्थापित करो। सबको एक समान वस्तु प्राप्त होनी चाहिये।"

कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि ये सब बातें वे द्वेष वश कहते हैं और द्वेष होता है विषयभोगों की प्राप्ति के लिये। हम भी धनिकों की भाँति जीवन बिताना चाहते हैं, जब हमारी इच्छा की पूर्ति नहीं होती और दूसरे उनका उपभोग करते हैं, तो स्वाभाविक रूप मे उनके प्रति ईर्ष्या द्वेष होने लगता है। जब हमें अपनी अभिलषित वस्तु प्रबल इच्छा होने पर भी प्राप्त नहीं होती, तो दुःख होता है। कोई इच्छा क्षणिक रूप से पूर्ण भी हो जाती है तो क्षणिक सुख भी प्राप्त हो जाता है। समस्त इच्छाओं की कभी पूर्ति होना सम्भव ही नहीं। अतः प्राणी इच्छा दुःखों के बोझ से दबकर मोह के गर्त में गिर पड़ता है, वह सम्भ्रमित हुआ इधर उधर भ्रमण करता रहता है। क्यों भ्रमता है? इसलिये कि उसे सुख-दुख का, ज्ञान-अज्ञान का, सत्य-असत्य का, विवेक नहीं रहता। प्राणी द्वन्द्व रूपी दो पाटों की चक्की के बीच मे पड़ा हुआ पिसता रहता है।

अब प्रश्न होता है कि सभी सम्मोहित होकर द्वन्द्वों के पाटों के बीच में पिसते रहते हैं, तो भगवान् का भजन करने वाले भक्त फिर हो ही नहीं सकते। फिर भक्तों की जो आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार संज्ञायें तो सब व्यर्थ हैं, इस पर कहते हैं, ऐसी बात नहीं है। स्थूल देह में यद्यपि पापकर्माओं की संख्या अधिक है। प्रायः पाप प्रधान पुरुष ही विषय भोगों में संलग्न रहते हैं। जो जन्मजन्मान्तरों से तपस्या, यज्ञ, दान, धर्म आदि सत्कर्मों को करते आ रहे हैं और अनेक जन्मो के पुण्यों के कारण जो सुकृति बन चुके हैं, उनकी प्रवृत्ति विषय भोगों की ओर विशेष न होकर भगवान् के भजन की ओर विशेष रूप से होती

है। संसारी लोग तो संसारी भोगों की इच्छाओं के वशीभूत होकर द्वेष का आश्रय लेकर इधर-उधर अनिश्चित रूप से फिरते रहते हैं किन्तु ये सुकृति पुण्यात्मा पुरुष दृढ़व्रती बनकर निरंतर भगवत् भजन में ही लगे रहते हैं, जिससे वे विवेक वैराग्य द्वारा मनुष्य जीवन के यथार्थ लक्ष्य को जान लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा कि प्राणी अविवेक को क्यों प्राप्त होते हैं तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! देखो, दो प्रकार की इच्छायें उत्पन्न हुआ करती हैं, एक अनुकूल दूसरी प्रतिकूल। सभी यही चाहते हैं मुझे सदा सुख ही मिले दुःख न मिले। अनुकूल वेदना को सुख कहते हैं, प्रतिकूल वेदना को दुख। अनुकूल के प्रति सदिच्छा होती है, प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है। सुख-दुख, राग-द्वेष, शीत-उष्ण इन्हीं सब का नाम द्वन्द्व है। इन द्वन्द्वो के कारण ही स्थूल देह की उत्पत्ति होती है। तभी प्राणी अपने को सुखी दुखी अनुभव करने लगता है। सुख दुःखादि द्वन्द्व जनित मोह से ही अविवेक प्राप्त होता है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! जब सभी स्थूल शरीरों की उत्पत्ति द्वन्द्वों के ही कारण है और उन्हीं से संमोह होता है, तो मुझे भी द्वन्द्व संमोहक शत्रु दबा कर मोह में फँसा लेगा?

इस पर भगवान् ने कहा—हे परंतप! तुम उच्च कुल में उत्पन्न हुए हो, तुम सुकृति हो, जन्म जन्मान्तरों के तपस्वी हो तुम्हें द्वन्द्व मोह संज्ञक शत्रु दबाने में समर्थ नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! प्राणी मात्र में चाहें थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हों, इच्छा द्वेष तो सभी में होता है। तो क्या सभी आपके भजन के अयोग्य हैं?"

भगवान् ने कहा—जो लोग राग द्वेष के सदा अधीन रह

कर व्याकुल बने रहते हैं. वे भजन के योग्य मानव शरीर पाकर भी--साधक देह पा लेने पर भी--मुझ परमेश्वर से दूर ही रहते हैं, मेरा भजन नहीं करते। किन्तु जो राग द्वेष से रहित है, वे तो मेरा भजन करते ही हैं।"

अर्जुन ने पूछा—स्थूल मानव शरीर पाकर भी कुछ लोग राग द्वेष से रहित भी हो सकते है ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ कुछ लाखों में एक आध ऐसे भी पुरुष होते है, जो राग द्वेष से रहित होते हैं। उनका प्रभु प्राप्ति के निमित्त सुदृढ़ संकल्प होता है, वे संसारी भोगों में न फंसकर निरन्तर भगवत् भजन में ही सलग्न रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे सौभाग्यशाली महानुभाव कैसे होते हैं ?

भगवान् ने कहा—जिनके पापों का अन्त हो गया है। जो निष्कलमप, विगत ज्वर, निष्पाप हो चुके हैं। जन्म जन्मान्तरों से पुण्य कर्म करते-करते जिनके पापों का अन्त हो गया हैं। वे ही सुकृति पुरुष द्वन्द्व जनित मोह से सदा सर्वथा विमुक्त होकर मेरा भजन करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! आपके ये दृढ़व्रती भक्त चाहते क्या हैं और उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जिननि अनेकनि जनम करे जप तप मख अरचन।
पुन्यवान ते पुरुष लगै शुभ करमनि तिनि मन॥
तिनिके होवैं छीन पाप निष्कलमप होवैं।
राग रंग नहिँ फँसैं न वे फिरि दुख में रोवैं॥
राग द्वेष द्वन्द्वनि रहित, मोहमुक्त दृढ़ निश्चयी।
भजहिँ भक्त सब भाँति तैं, मोइ पाइ होवैं जयी॥

दृढ़निश्चयी भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं

[१५]

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥*

(श्री भग० गी० ७ अ० २९, ३० श्लोक)

छप्पय

जो होवै मम शरन मोह निज सरबसु समुन्नत ।
जरा मरन छुटि जाय जतन करि हैं जाके हित ॥
पाइ मक्ष ते पुरुष जाइ निश्चय करि जानों ।
वै ई ज्ञानी भक्त शिरोमनि मम प्रिय मानों ॥
वे ई जानत करमकूँ, जानें सब अध्यात्म कूँ ।
जानें वे ई ब्रह्मकूँ, आत्म और परमात्म कूँ ॥

---

* जरा मरण से छूटने के इच्छुक जो मेरी शरण मे आकर इनसे छूटने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे ही उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा संपूर्ण कर्मों को जानते हैं ॥२९॥

जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले अन्तकाल में मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥३०॥

यह शरीर पाप पुण्यों द्वारा निर्मित है। पाप न्यून हों, पुण्य पुञ्ज अधिक हों, तो प्राणियों की प्रभु के पाद पद्मों में प्रीति होती जाती है, पुण्य न्यून हो पाप की प्रबलता अधिक हो, तो संसारी भोगों की इच्छा तथा प्राणियों के प्रति राग द्वेष बढ़ने लगता है। पुण्य कर्मों से प्राणियों का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। मन में देवोपासना की इच्छा दृढ़ता से आने लगती है, तब समझना चाहिये हमारे पापों का क्षय होने वाला है। भोगेच्छा पापों का फल है। भोगों से रोगों की वृद्धि होती है, रोग या ज्वर भी पाप का ही नाम है। जैसे अग्नि सुवर्ण के मल को जला कर उसे निर्मल बना देती है, अग्नि के ताप से उसके समस्त मल जल जाते हैं, उसी प्रकार पुण्य कर्म रूपी तपस्या से मनुष्य मल रहित विशुद्ध बन जाता है, ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषों को ही भगवत् भजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उन्हें ही ज्ञान के प्रति जिज्ञासा होती है उपासना द्वारा ज्यों-ज्यों अन्तःकरण दोष रहित बनता जाता है त्यों-त्यों उसकी भक्ति और बढ़ती जाती है।

महर्षि अत्रि की पुत्री अपाला को कुष्ट रोग हो गया था, उसके पति ने भी उसका परित्याग कर दिया था, वह अपने पिता के आश्रम में आकर रहने लगी। उसने अनुभव किया— "यह मेरे पूर्व जन्म कृत पापों का ही फल है, अतः मैं इसे इन्द्र की उपासना द्वारा मेट दूँगी।" यही सोचकर उसने तन्मयता के साथ इन्द्र की उपासना की इससे उसका कुष्ट दूर हो गया। उसका शरीर सूर्य की प्रभा के समान दिव्य हो गया।

उसने कुष्ट निवृत्ति के ही निमित्त इन्द्र की उपासना की थी, भगवान् ने इन्द्र के रूप से उसकी वह इच्छा पूर्ति कर दी। यदि संसार की किसी भी इच्छा से अन्य किसी देव की उपासना

न करके, केवल कर्तव्य बुद्धि से- निष्काम भाव से-केवल भगवान् की ही उपासना की जाय, तो भगवान् के समग्र रूप का परिज्ञान हो जायगा। शारीरिक तथा मानसिक रोग जो आधि व्याधि के नाम से प्रसिद्ध हैं, ये सब तो भगवत् शरण में जाने पर अपने आप ही नष्ट हो जाते है।

सबसे बड़े रोग तो जरा और मरण है। शरीर प्रत्येक स्वांस पर जर्जरित होता जाता है। उसका भान हमें तब होता है, जब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जाती है। जरावस्था सहसा कहीं से आ नहीं जाती। वह तो प्रतिक्षण आगे बढ़ती जाती है। जैसे सरसों का एक बड़ा भारी ढेर पड़ा है, उसमे से एक मुट्ठी सरसों निकाल लो तो उस ढेर में पता भी न चलेगा कि इसमें से निकाली भी या नही। किन्तु एक ही मुठ्ठी निकलने से उसमें कुछ न कुछ न्यूनता तो अवश्य ही हुई। इसी प्रकार नित्य एक-एक मुठ्ठी निकालते रहो, तो एक दिन वह आवेगा, कि ढेर का अस्तित्व ही न रहेगा। इसी प्रकार जरावस्था हमारे शरीर को खाने के लिये नित्य ही आगे बढ़ती रहती है। नित्य प्रति शनैः-शनैः बढ़ते-बढ़ते एक दिन वह आ जाता है, कि इस शरीर का अन्त हो जाता है। मृत्यु हो जाती है। फिर जन्म लेना पड़ता है। फिर जरा आती है, फिर मृत्यु होती है इस प्रकार यह चौरासी का चक्कर चलता ही रहता है। इस चक्र से छुटकारा तभी हो सकता है, जब भगवान् की शरण ली जाय। भगवान् की शरण लेने पर समस्त आधि व्याधियाँ जरा मरण सब की समाप्ति हो जाती है। मृत्यु के सिर पर पैर रखकर प्राणी वैकुण्ठ धाम को हरि भगवान् के परम पद को प्राप्त कर लेता है। भगवान् की शरण लेने पर तो कोई कमी रहती ही नहीं। क्यों कि भगवान् समग्र हैं, परिपूर्ण

हैं उनका उपासक भी परिपूर्ण ही बन जाता है। जो जिसका उपासक होता है, वह उसी के गुणों वाला हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की, कि भगवत् भक्तों को कौन सी गति प्राप्त होती है, वे क्या चाहते हैं, तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन मेरे भक्त जरा मरण के चक्कर से छूटना चाहते हैं?"

अर्जुन ने पूछा—"जरा मरण से छूटने के लिये आपके भक्त कौन सा उपाय करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"वे एक मात्र मेरी ही शरण में आकर चौरासी के चक्कर से छुटने का प्रयत्न करते हैं।" मेरी छत्र छाया में आ जाने पर उनकी समस्त संसारी अधि व्याधियां अपने आप समाप्त हो जाती हैं। वे मेरी भक्ति द्वारा सभी दुखों से विमुक्त बन जाते हैं। वे मेरे भक्त मेरे ब्रह्म स्वरूप को जान जाते हैं। वे सम्पूर्ण अध्यात्म्य तत्व के वेत्ता बन जाते हैं। कर्मों के समस्त रहस्य को भी वे समझ जाते हैं। वे अधिभूत को भी भली-भांति समझ जाते हैं। वे अधिदेव रहस्य से भी अवगत हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि वे मेरे समग्र स्वरूप के ज्ञाता बन जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—आपके इस समग्र रूप का जानना तो अत्यन्त ही कठिन है।

भगवान् ने कहा—"हाँ, कठिन तो है ही। अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों के ही फल स्वरूप मुझे जानने की जिज्ञासा होती है। अभ्यास करते-करते हृदय निर्मल बनता जाता है। अन्तःकरण विशुद्ध हो जाने पर उसमें मेरा प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है। जब पुरुष का अन्तिम-चरम शरीर-ज्ञानी के रूप में होता है, तब फिर इस जरा मरण के चक्कर से छूट जाता है।

फिर उसका जन्म नहीं होता। मेरे अनन्य भक्त ज्ञानी का शरीर अन्तिम शरीर है। भले ही पूर्वावस्था या मध्यमावस्था या वृद्धावस्था तक समग्र ज्ञान न हो, किन्तु मृत्यु के एक क्षण पूर्व ही यह दिव्य ज्ञान जिसे हो जाय, तो उसने भी मुझे पूर्ण रीत्या जान लिया है। ऐसे अन्त समय में भी बोध हो जाने वाले पुरुष का पुनः आवागमन नहीं होता।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् ने जब ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदेव, अधियज्ञ इन शब्दों का प्रयोग किया और प्रयाण काल में भी जानने वाले को सिद्धि प्राप्ति का उल्लेख किया, तो अर्जुन ने इन सबके सम्बन्ध में जैसे जिज्ञासा की, भगवान् से जैसे सात प्रश्न किये इनका वर्णन मैं अगले अध्याय में आगे करूँगा। इस सातवें ज्ञान योग अथवा ज्ञान विज्ञान योग नामक अध्याय में भगवत् भक्ति की महत्ता बतायी है, उसी का विस्तार के साथ वर्णन आगे किया जायगा। आशा है आप इस प्रसंग को बड़ी सावधानी के साथ दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

यह सब दृश्य प्रपञ्च सकल अधिभूत कहावैं।
कमलासन जग रचैं तिनहिं अधिदेव बतावैं॥
अन्तरयामी ब्रह्म सकल घट-घट के बासी।
वेई हैं अधियज्ञ अनामय अज अविनासी॥
इन तीनिहु के सहित जो, मोकूँ जानत युक्त चित।
अन्त काल में जो भजैं, जानें मोकूँ ब्रह्मवित॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योग शास्त्र है, जो श्री कृष्ण और अर्जुन के सम्वाद् के रूप में है, उसमें 'ज्ञानविज्ञान योग' नाम का सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥७॥

अथ

अष्टमोऽध्यायः

(८)

अर्जुन के सात प्रश्न

[१]

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥❀

(श्री भग० गी० ८ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

अरजुन बोले—प्रभो ! आपु तो हैं पुरुषोत्तम ।
पूछूँ कछु हौं प्रश्न जिनहिँ समझूँ सरवोत्तम ॥
ब्रह्म कौन कूँ कहैं आपु मोकूँ बतलावें ।
कौन कह्यो 'अध्यात्म' ताहि स्वामी समुझावें ॥
करम कौन कूँ कहत हैं, कौन कह्यो अधिभूत है ।
काकूँ अधिदैवत कहत, सब तुमरी करतूत है ॥

❀ हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं और अधिदैव किसका नाम है ॥१॥

हे मधुसूदन ! यहाँ पर अधियज्ञ क्या है और शरीर में वह कैसे है ? तथा नियतात्मा पुरुषों द्वारा आप अन्त में कैसे जाने जाते हैं ॥२॥

साधारणतया जो आँखों से-प्रत्यक्ष-दीखता है। उस विषय में तो सभी एकमत है। पृथ्वी है, जल है, सूर्य चन्द्रमा हैं। ये सभी आँखवालों को दीखते है। वायु प्रत्यक्ष नहीं दीखती, उसका अनुमान लगाते हैं। यद्यपि उसका साक्षात्कार नेत्र इन्द्रिय द्वारा नहीं होता, फिर भी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। आकाश का अनुमान शब्द द्वारा श्रोत्रिय द्वारा होता है। इस प्रकार पंचभूतों को किसी न किसी रूप में प्राय: सभी मानते हैं। इनका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा होता है। किन्तु जो अतीन्द्रिय है, जहाँ इन्द्रियों की तो बात ही क्या मन तथा बुद्धि की भी पहुँच नहीं, शास्त्रों में उसी के सम्बन्ध में मतभेद हैं। नाना ऋषियों के आत्मा के सम्बन्ध में नाना मत हैं, क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय है। वह नेत्रों का विषय नहीं, अन्य इन्द्रियों द्वारा वह अनुमान से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। कोई भी प्रमाण उसे सिद्ध करने में समर्थ नहीं। कहो शास्त्र ही प्रमाण है, तो शास्त्र एक नहीं अनेक शास्त्र हैं। आप कहोगे आर्ष प्रमाण मान लो। ऋषियों के वचन आर्ष कहे जाते हैं, तो ऋषि भी अनेक हैं। उनमें से कोई कहता है, ब्रह्म है कोई कहता है, ब्रह्म नहीं है। इनमें से किसकी बात मानें। शास्त्रों में जो भी कुछ वाद विवाद या मुख्य विषय है, वह ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा तथा भगवान् के ही विषय में है। समस्त शास्त्र इसे सिद्ध करने में अपना पुरुषार्थ दिखा रहे हैं। जो कहते हैं ब्रह्म है, वे उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में नाना तर्क उठाकर भाँति-भाँति के प्रमाण देकर उसके अस्तित्व को सिद्ध करने में लगे हुए हैं।

जो कहते हैं नहीं है, वे नाना युक्तियों से, भाँति-भाँति के तर्कों से उसके नास्तित्व का प्रतिपादन कर रहे हैं। कौन की बात सत्य है कौन की बात असत्य है, इसे तो यदि ब्रह्म नाम का कोई होगा,

तो वही जानता होगा। किन्तु एक बात अवश्य है, बिना अस्तित्व के नाम या संज्ञा होती नहीं। ब्रह्म न होता तो वह वाद विवाद का विषय न बनता। एक फल है, उसे देखकर एक आदमी कहता है—यह आम है। दूसरा कहता है यह आम नहीं है। इनमें नहीं कहने वाला भी आम का अस्तित्व मानता है। जो कहता 'नहीं–है' वह नहीं के साथ अस्तित्व मानता है। जो कहता है—'हैं' वह बिना नही के अस्तित्व मानता है। यह जिसका संकेत किया जा रहा है वह भले ही आम न हो, किन्तु 'आम' नाम के किसी फल का अस्तित्व 'नहीं है' कहने वाला भी स्वीकार करता है।

वस्तु तो वह है, किन्तु ऐसी वस्तु है जिसे इन्द्रियाँ मन के सहित खोज कर लौट आती हैं, मनके सहित इन्द्रियां उसका पता नहीं पा सकतीं। इस पर नास्तिक कहता है जिसका पता न इन्द्रियाँ ही पाती हैं और न मन तथा बुद्धि जिसके सम्बन्ध में कहने में समर्थ हैं, ऐसी वस्तु का हम अस्तित्व ही नही मानते। मत मानों अस्तित्व। तुमसे कहता कौन है, कि अस्तित्व मानों, जब नही है तो तुम उसके अस्तित्व के अभाव को सिद्ध करने के लिये इतने व्यग्र क्यों बने रहते हो। उसके होने के भंडाफोर करने के लिये इतने तर्कों को क्यों देते हो। तुम उसका अस्तित्व मिटाने को व्यग्र हो, इसी से सिद्ध होता है, कि तुम ऊपर से नहीं है नहीं कह रहे हो। तुम्हारे भीतर उसका अस्तित्व विद्यमान है, किन्तु तुम अपनी मान्यता के अनुसार आस्तिक कहलाने में अपना अपमान समझते हो। उसी निर्बलता को छिपाने को तुम वार-बार कहते हो नहीं है नहीं है। इसमें मान्यता ही प्रधान है। मान्यता होती है अपनी श्रद्धा के अनुसार मान्यता को तर्क द्वारा कोई सिद्ध नही कर सकता।

इससे सिद्ध हुआ संसार में दो मान्यता के पुरुष होते हैं,

क्योंकि मतभेद भी सनातन ही है। सृष्टि के समस्त वाद विवाद मतभेद पर अवलम्बित हैं। मतभेद न हो, तब तो कोई विवाद ही नहीं। एक मान्यता वाले तो कहते हैं ब्रह्म नहीं है। अब क्यों नहीं है, कैसा नहीं है इस विषय में उन लोगों में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं, जो इस बात को सिद्ध करते हैं, कि ब्रह्म नहीं है, उन ग्रन्थों को नास्तिक दर्शन या नास्तिक शास्त्र कहते हैं।

जिनकी मान्यता है, आत्मा है, उनके ग्रन्थों को आस्तिक दर्शन या आस्तिक शास्त्र कहते हैं। वह है, ऐसा ही है, ऐसा नहीं है, कोई कहता है द्वैत है, कोई कहता है, अद्वैत है, कोई कहता है विशिष्ट अद्वैत है, कोई कहता है शुद्ध अद्वैत है, कोई कहता है द्वैत अद्वैत है, कोई कहता अचिन्त्य अद्वैत है, इस प्रकार अस्तित्व मानने वालों में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं। किन्तु आस्तिक लोग नाना युक्तियों से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वह आत्मा का अस्तित्व मानकर ही अपना कथन आरम्भ करते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने पिछले अध्याय में ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अन्त समय में ब्रह्मज्ञान इन शब्दों का प्रयोग किया, तब अर्जुन को प्रश्न उठाने का सूत्र मिल गया। उन्हीं के आधार पर उन्होंने सात प्रश्न किये।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपके कथन के सम्बन्ध में आपसे मैं कुछ पूछना चाहता हूँ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—"भाई, इतनी देर से तो तुझे समझा रहा हूँ, फिर भी तुम पूछना चाहते हो, अपने आप ही विचार विवेक द्वारा तुम अपनी शंका का समाधान क्यों नहीं कर लेते?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! मेरी बुद्धि अल्प है आप महान् है।

मैं नर हूँ आप नारायण हैं। मैं पुरुष हूँ आप पुरुषोत्तम हैं। पुरुष को जो शंका होगी वह पुरुषोत्तम से ही पूछेगा।"

हँसते हुए भगवान् बोले—"अच्छा पूछो क्या-क्या पूछते हो ?"

अर्जुन ने कहा—"हे पुरुषोत्तम ! एक नहीं मेरे सात-सात प्रश्न हैं। सबका आपको उत्तर देना पड़ेगा।"

भगवान् ने कहा—"सात नहीं सात सौ प्रश्न पूछो। मैं सब का उत्तर दूँगा।"

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! मेरा पहिला प्रश्न तो यह है, जिस ब्रह्म का आप बार-बार प्रयोग करते हैं, वह ब्रह्म है क्या ?

भगवान् ने कहा—"अच्छा पहिला प्रश्न हो गया, दूसरा बताओ ?"

अर्जुन ने कहा—"अध्यात्म शब्द को भी आप बहुत कहते हैं, उस अध्यात्म का यथार्थ तत्त्व मुझे समझाइये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा तीसरा प्रश्न क्या है ?"

अर्जुन ने कहा—तीसरा प्रश्न यह है कि हत्या की जड़ यह कर्म ही है। आप आरम्भ से ही मुझे कर्म करने पर बल दे रहे हैं। इस कर्म का यथार्थ मर्म समझा दीजिये।

भगवान् ने कहा—अच्छा चौथा प्रश्न क्या है ?

अर्जुन ने कहा—"और अधिभूत का अर्थ बता दें ?" अधिभूत किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—पांचवां ?

अर्जुन बोले—पांचवां यह बतावें कि जिसको अधिदैवत कहते हैं, वह किस भाव में प्रयुक्त होता है ?

भगवान् ने कहा—छटवां प्रश्न क्या है ?

अर्जुन ने कहा—आप तो भगवन् ! मधुसूदन हैं न ? महान्

उपद्रव करने वाले ब्रह्माजी को भी डराने वाले मधुकैटभ को आपने मारकर ब्रह्माजी को निर्भय बना दिया इसी प्रकार मुझे भी निर्भय बना दें। आपने अधियज्ञ का भी प्रयोग किया है। अधियज्ञ का अभिप्राय यज्ञ के अधिष्ठाता परमात्मा से है क्या ? इस देह में ही वह अधियज्ञ रहता है या इस देह के बाहर ? यदि इस देह में ही है तो वह कौन है और उसका चिन्तन कैसे करें।

भगवान् ने कहा—सातवें प्रश्न को भी बता दे।

अर्जुन ने कहा—"अंतिम सातवाँ प्रश्न मेरा यही है, समस्त आस्तिक शास्त्र इसी बात को कहते हैं कि अन्तिम समय-मरण काल में-केवल आपको ही पुरुष द्वारा कैसे जानना चाहिये। सो हे प्रभो ! मरते समय एकाग्र हुए पुरुषों को आपको कैसे जानना चाहिये ?"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! अर्जुन के इन सातों प्रश्नों का भगवान् जैसे उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

काकूँ तुमने कह्यो फेरि अधियज्ञ गुसाई।
कैसे यह अधियज्ञ रहे या तन के माहीं॥
सूत्र रूप में कहे शब्द परिभाषिक स्वामी।
करिकें सब इसपष्ट बताओ अन्तरजामी॥
हे मधुसूदन पुरुषको, अन्त समय जब आतु है।
नियतात्मा नर उननि तैं, कैसे जान्यो जातु है॥

अर्जुन के ६ प्रश्नों का उत्तर

[२]

श्रीभगवानुवाच

अक्षर ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

बोले पुनि भगवान—ब्रह्म अक्षर तुम मानो ।
जो क्षर होवै नहीं परम अक्षर तिहि जानो ॥
जाको नाम स्वभाव जीवऊ ताहि कहत हैं ।
प्रानिनि में ही बसै देह में नित्य रहत हैं ॥
सब भूतनि के भाव कूँ, करैं विसर्ग बतावते ।
ताकी संज्ञा करम है, करता बनि करवावते ॥

---

* भगवान् ने कहा—परम अक्षर ही ब्रह्म है, स्वभाव ही अध्यात्म कहा गया है । भूतों के भावों को उत्पन्न करने वाला विसर्ग-त्याग-की ही कर्म संज्ञा है ॥३॥

क्षरभाव ही अधिभूत है और पुरुष अधिदैव है । देहधारियों में हे प्यारे ! मैं ही अधियज्ञ हूँ ॥४॥

हमारे समस्त वेदशास्त्र ब्रह्म की ही जिज्ञासा से भरे पड़े हैं। युग दोष के कारण अब तो प्रायः सभी लोग अध्यात्मवाद से तथा धर्म से पराङ्मुख से हो गये है। अब व्यक्तिगत रूप से कोई अध्यात्मचिन्तन और धर्माचरण भले ही करले। सामूहिक रूप में सामाजिक रूप में अब अध्यात्म जिज्ञासा प्रायः नहीं रही। अब तो पैसा और प्रतिष्ठा के ही लिये प्रयत्न किया जाता है। अधिकांश नर-नारी शिश्नोदर परायण हो गये हैं। चर्चा के विषय यौन सम्बन्ध और रसना के स्वाद ये ही रह गये हैं। प्राचीन काल का वर्ण और आश्रम धर्म भी छिन्न-भिन्न प्रायः हो गया है।

पहिले जब इस देश में वर्ण और आश्रम धर्म की प्रतिष्ठा थी, तब ब्राह्मणों का एकमात्र कर्म अध्ययन अध्यापन ही था। वे यज्ञ, दान तपस्या द्वारा अपने अन्तःकरण को शरीर को निर्मल बनाकर वेदशास्त्रों के अध्ययन अध्यापन में ही निरन्तर तल्लीन रहते। उस समय के क्षत्रिय शासक ऐसे अध्ययनशील वेदज्ञ ब्राह्मणों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते। क्षत्रिय राजागण भी वेदों में पारंगत होते। वे भी अध्यात्म विद्या में अत्यन्त रुचि रखते। उस समय की महिलायें भी ब्रह्मवादिनी हुआ करती थीं। उस समय सर्वत्र अध्यात्म विद्या का बोलबाला था। राजागण यज्ञ-यागादि धार्मिक कृत्यों में ही अपने धन का व्यय करते। बड़े-बड़े यज्ञ होते, उनमें दूर-दूर के ज्ञानी ऋषि महर्षि आते। शास्त्रों की चर्चा होती। परस्पर में शास्त्रार्थ करते। राजा लोग इन विषयों में अत्यन्त रस लेते। उन दिनों सबसे बड़ा धन गोधन ही माना जाता था। जिसे जितनी ही अधिक गौएँ दी जाती थीं, उसे उतना ही अधिक सम्मानित समझा जाता था। बहुत से जनक अजातशत्रु आदि राजा तो इतने भारी ब्रह्मवेत्ता थे, कि अच्छे-अच्छे ब्राह्मण उनसे उपदेश लेने आते थे। उनकी सभाओं में सदा

अध्यात्म चर्चा ही चला करती थी। भगवान् व्यास जी ने अपने जन्मजात ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ पुत्र शुकदेव को भी शिक्षा ग्रहण करने जनकजी के ही समीप भेजा था। उन दिनों मिथिला के महाराजा जनक की ज्ञानियों में अत्यधिक ख्याति थी, वे ब्रह्मवेत्ताओं का बहुत अधिक सम्मान किया करते थे। उनके ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी वेदशास्त्रों में अनेक प्रसंग हैं, यहाँ हम केवल एक प्रसंग देकर यह बतावेंगे कि उस समय ब्रह्मविद्या का कितना भारी महत्त्व था और पुरुष ही नहीं नारियाँ भी इस विषय में परम पारंगता थीं।

एक बार महाराज जनक ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। देश देशान्तरों के बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मण उस यज्ञ में बुलाये गये थे। दूर-दूर से ऋषि, महर्षि, राजर्षि ब्रह्मर्षि उस यज्ञ में पधारे थे। इतने भारी वेदज्ञ ब्राह्मणों के समूह को देखकर विद्या व्यासंगी, सत्संग प्रिय ब्रह्मज्ञानी राजाजनक परम प्रमुदित हुए। वे यह जानना चाहते थे, इन सब ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ तात्विक विवेचन करने वाला कौन है। जिसे मैं अधिक से अधिक सम्मानित कर सकूँ। इसके लिये उन्होंने एक उपाय सोचा।

यह पहिले ही बताया जा चुका है, कि उस समय गौ को ही सर्वश्रेष्ठ सम्मानित धन माना जाता था। अतः राजा ने दश सहस्र सुंदर दुधारू सवत्सा सीधी गौएँ मँगवाई। उनके सींगों में दश दशपाद सुवर्ण बँधवा दिया। और सब ब्राह्मणों से हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—"आप लोगों में से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन गौओं को ले जाय।" सहस्रों लाखों ब्रह्मवेत्ता वेदज्ञ श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ वहाँ ब्राह्मण थे, किन्तु अपने को स्वयं सर्वश्रेष्ठ कौन कहे। कोई कहे भी तो सहस्रों विद्वान् उससे एक साथ शास्त्रार्थ करने को उद्यत हो जाते। सभी उससे द्वेष करने लगते, कि यह हमें अपने से छोटा समझता है। अतः

किसी ने ऐसा साहस नहीं किया। जब सब चुप हो गये, गौएँ के लिये किसी ने हाथ नहीं बढ़ाया, तब ब्रह्म ज्ञानी महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने बड़ी ही नम्रता से अपने शिष्य से कहा—"वत्स ! इन सब गौओं को अपने आश्रम पर हांक ले चलो।"

अब तो क्या था, मानों किसी ने बर्रे के छत्तों में हाथ डाल दिया हो। जो अपने को वेदज्ञ ज्ञानी मानते थे, उन सबने अपना बहुत अपमान समझा। महर्षि को पहिले तो कुपित कराने की चेष्टा करने लगे।

यज्ञ के जो प्रधान होता थे पहिले उन्होंने ही कहा—क्यों जी ! तुम अपने को इन सब में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता मानते हो ?

अत्यन्त ही नम्रता के साथ महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"ब्रह्मवेत्ताओं की तो हम चरण धूलि हैं, उन्हें तो हम सिर से प्रणाम करते हैं। कोई गौओं को नहीं ले रहा था, हमें गौओं की आवश्यकता थी, इसीलिये लिये जाते हैं।"

ऋषिका ऐसा सौम्य सरल मृदु उत्तर सुनकर सभी स्तब्ध रह गये। अब शास्त्रार्थ छिड़ा। अनेकों वेदज्ञों ने अनेक प्रश्न किये। ऋषि ने सभी का समाधान किया। उन विद्वानों में महर्षि वचक्नु की पुत्री गार्गी भी थी। उसने भी ब्रह्मर्षि से पूछा। उसने स्थूल से ही प्रश्न उठाया। उसने कहा—ये जितने पार्थिव पदार्थ हैं, वे सब पृथ्वी का आश्रय लेकर अवस्थित हैं। पृथ्वी जल में ओत-प्रोत है। जल किसमें ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—जल तेज में ओत-प्रोत है।

गार्गी ने पूछा—तेज किसमें प्रतिष्ठित है ?

या०—तेज वायु में प्रतिष्ठित है।

गा०—वायु किसमें प्रतिष्ठित है।

या०—वायु आकाश में।

गा०—आकाश किसमें ?
या०—आकाश अन्तरिक्ष में।
गा०—अन्तरिक्ष किसमें ?
या०—अन्तरिक्ष गन्धर्व लोक में।
गा०—गन्धर्वलोक किसमें ?
या०—आदित्यलोक में।
गा०—आदित्यलोक किसमें ?
या०—चन्द्रलोक में।
गा०—चन्द्रलोक किसमें ?
या०—चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में।
गा०—नक्षत्रलोक किसमें ?
या०—देवलोक में।
गा०—देवलोक किसमें ?
या०—इन्द्रलोक में।
गा०—इन्द्रलोक किसमें ओत प्रोत है ?
या०—प्रजापतिलोक में।
गा०—प्रजापतिलोक किसमें ?
या०—ब्रह्मलोक में।
गा०—ब्रह्मलोक किसमें ओत प्रोत है ?

अब तो याज्ञवल्क्यजी को कुछ रोष आ गया, वे बोले—"देखो गार्गी ! अति प्रश्न नहीं किया जाता। सबकी अवस्थिति ब्रह्म पर्यन्त ही है। सबका कहीं भी तो अवसान होगा। इससे आगे तुम प्रश्न करोगी, तो तुम्हारा मस्तक धड़ से पृथक् हो जायगा।"

गार्गी यह सुनकर चुप हो गयी। फिर उसने पूछा अच्छा एक बात और बता दें-अक्षर तत्व किसे कहते हैं ?

इस पर महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने कहा—"गार्गी ! तुमने जिस

अक्षर के सम्बन्ध में मुझसे पूछा है, उसे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण गण अस्थूल और अनणु–अर्थात् अणु से भी रहित–कहते हैं इसी अक्षर के शासन में सूर्य, चन्द्र तथा आकाशदि टिके हैं। यही सबका दृष्टा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टा नहीं।" इस प्रकार याज्ञवल्क्य जी ने अक्षर तत्त्व का भली भाँति निरूपण करके गार्गी को सन्तुष्ट किया इस पर गार्गी ने तथा अन्य सभी विद्वानों ने याज्ञवल्क्य जी का लोहा मान लिया उन्हें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता स्वीकार कर लिया।

श्रेष्ठ पुरुष स्थूल–हलके–प्रश्न नहीं किया करते वे आत्मा परमात्मा के निरूपण में ही अपने समय को बिताते हैं। अर्जुन ने भी भगवान् से सर्वप्रथम अक्षर ब्रह्म के ही सम्बन्ध में प्रश्न किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से सात प्रश्न किये, तो भगवान् ने जिस क्रम से अर्जुन ने प्रश्न किये थे उसी क्रम से उत्तर देने को उद्यत हुए।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन सात प्रश्नों में से तुम्हारा पहिला प्रश्न कौन-सा है?"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मेरा पहिला प्रश्न यह है कि ब्रह्म क्या है?

भगवान् ने कहा—परम् अक्षर का ही नाम ब्रह्म है?

अर्जुन ने पूछा—अ-क्षर क्या है?

भगवान् ने कहा—जिसका क्षर न हो नाश न हो। जिसे प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता न हो जो परम आनन्द स्वरूप हो। जिसकी सत्ता हो, जो जड न होकर चैतन्य स्वरूप हो जो आनन्दघन हो। जिसके प्रकाश से ही सभी प्रकाशित होते हों। जिसकी सत्ता से ही सभी सत्तावान् हों।

जिसके आनन्द, से ही समस्त चराचर आनन्दित होते हों। जो किसी के भी द्वारा नाश न हो सकता हो। जिसका कभी जन्म न हो। वही अज, अविनाशी, कूटस्थ, सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म है।"

अर्जुन—उसकी उत्पत्ति किसके द्वारा हुई?

हँसकर भगवान् ने कहा—"यह तुम्हारा प्रश्न असंगत है। जब हम बार-बार कह चुके हैं, वह अजन्मा है, अनादि है स्वतः प्रकाशित है। जो सबका जनक होने पर भी कर्तृत्व से पृथक् है। उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न व्यर्थ है। वह सबका स्वामी सर्वगत सच्चिदानन्द स्वरूप है।"

अर्जुन कहा—"अच्छा, भगवन्! मैं समझ गया जो अक्षर है वही ब्रह्म है। अब मेरा दूसरा प्रश्न है अध्यात्म किसे कहते हैं?"

भगवान् ने कहा—स्वभाव को ही अध्यात्म कहा जाता है।

अर्जुन ने पूछा—स्वभाव क्या?

भगवान् ने कहा—स्व-का अर्थ है अपना भाव का अर्थ है रूप अर्थात् ब्रह्म का जो अपना स्वरूप है, जिसे जीव भी कहते हैं अधिआत्म अर्थात् अध्यात्म है। यह जीव ही देह में अधिष्ठित होकर अपने को भोक्ता मानकर नाना भोगों को भोगता सा प्रतीत होता है। यहाँ अध्यात्म से शरीर, इन्द्रिय आदि का तात्पर्य नहीं है। सूक्ष्म शरीर से युक्त जो चैतन्यांश है उसी से यहाँ अभिप्राय है।

अर्जुन ने पूछा—आप मेरे तीसरे प्रश्न का उत्तर दें। कर्म किसे कहते हैं?

भगवान् ने कहा—जो किया जाय वही कर्म है।

अर्जुन ने कहा—किया क्या जाय? और किसके लिये किया जाय?

भगवान ने कहा—"विसर्ग अर्थात् त्याग के ही निमित्त जो किया जाय, वास्तव में वही कर्म है। जैसे यज्ञ है, यज्ञ में आदि से अन्त तक जितना कार्य किया जायगा सब त्याग की ही भावना से किया जायगा। हवनीय पदार्थों का घृत का, समिधा आदि का अग्नि में त्याग किया जायगा। ऋत्विक्, होता, उद्गाता, ब्रह्मा आचार्यादि जितने यज्ञ कराने वाले है उनके लिये दक्षिणा के लिये द्रव्य का त्याग किया जायगा। ब्राह्मणादि तथा अन्य सभी जीवों के लिये अन्न का त्याग किया जायगा। इसी प्रकार दान भी कर्म है, दान में अपनी कहाने वाली वस्तु संकल्प पूर्वक दूसरे के निमित्त त्याग की जाती है। तपस्या भी कर्म है, इसमें अपनी समस्त सुख सुविधाओं का त्याग किया जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"इस त्याग रूप कर्म से होता क्या है ?"

भगवान् ने कहा—भैया, इस त्याग रूप कर्म द्वारा ही तो स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।

अर्जुन ने पूछा—त्याग रूप कर्म से प्राणियो की उत्पत्ति वृद्धि कैसे होती है ?

भगवान् ने कहा—मानव यज्ञ करता है। विधिवत् किया हुआ हवन-उसकी दी हुई आहुति-सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से जीवों की उत्पत्ति होती है, अन्न पैदा होता है, अन्न से प्राणियों की तृप्ति वृद्धि होती है। इस प्रकार विसर्ग अर्थात् त्याग से भूतों का भाव-उत्पत्ति तथा उद्भव-वृद्धि होती है।

अर्जुन ने पूछा—अधिभूत किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—जैसे अक्षर को ब्रह्म कहा है, वैसे ही क्षर भाव को अधिभूत कहा गया है।

अर्जुन ने पूछा—क्षरभाव क्या ?

भगवान् ने कहा—"जो क्षरित होता रहता हो, विनाश को प्राप्त होता हो। वही क्षर कहलाता है। जैसे शरीर है, पैदा होते ही यह क्षरित विनाश की ओर बढ़ने लगता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश ये सबके सब अधिभूत है। इनसे निर्मित सब पदार्थ आधिभौतिक कहे जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"अधिदैवत किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो आरम्भ में पुरुषाकार में उत्पन्न हुआ है समस्त देवगण जिसके अंग हैं, उसी की पुरुष संज्ञा है और उसे ही हिरण्यगर्भ, प्रजापति, सूत्रात्मा, अज, क तथा ब्रह्मा के नाम से पुकारते हैं। उसी को अधिदैव संज्ञा है।"

अर्जुन ने पूछा—फिर अधियज्ञ किसे कहते हैं ?

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब अधियज्ञ के लिये भी तुम्हें बताना पड़ेगा क्या ? प्यारे मित्र ! इस देह में मैं ही अधियज्ञ हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—आप अधियज्ञ कैसे हैं, और किस रूप से देह में निवास करते हैं ?

भगवान् ने कहा—यज्ञ कहो विष्णु कहो, वासुदेव कहो, कृष्ण कहो, भगवान् कहो परमात्मा कहो, सब मेरे ही नाम हैं। यज्ञादिक शुभ कर्म पुरुष ही कर सकता है अतः पुरुष ही यज्ञ है, वही यज्ञ पुरुष कहलाता है, पुरुष ही यज्ञ का विस्तार करता है; उसी ने यज्ञ कर्म को विस्तृत बनाया है। इसलिये यज्ञ पुरुष रूप में तुम मुझको ही जानो।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! मरते समय-प्रयाणकाल में-एकाग्रचित्त हुए पुरुषों को आपको किस प्रकार जानना चाहिये ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसका जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जो होवे उतपन्न नाश जाकौ है जावे।
भूतनि तें जो बन्यो वही अधिभूत कहावे॥
कहैं ताहि अधिदैव हिरण्मय पुरुष पुरानो।
सूत्रात्मा हू कहैं प्रजापति जाकूँ जानो॥
सब देहनि में बसत हूँ, बासुदेव मोतैं कहैं।
ताही कूँ अधियज्ञ सब, अन्तरयामी कहत हैं॥

अर्जुन के अन्तिम सातवें प्रश्न का उत्तर

[३]

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

मेरो सुमिरन मोइ प्रेम तैं प्राप्त करावे।
चिन्तन मेरो सतत अन्त में मोइ मिलावे॥
देह त्याग के समय काल जब अन्तिम आवे।
मेरी करिकें यादि अन्त में मम पद पावे॥
अरजुन ! संशय मति करो, निश्चय जाकूँ जानि तू।
पावैगो ध्रुव परम पद, अन्तिम करिकें मानि तू॥

---

* अन्तकाल में जो पुरुष मेरा ही स्मरण करता हुआ अपने शरीर का परित्याग करता है, वह पुरुष मेरे ही भाव को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥५॥

हे कौन्तेय ! अन्त काल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ प्राणी शरीर त्यागता है, वह उसी-उसी भाव को प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है ॥६॥

समस्त शास्त्रों का यही मत है, कि "अन्ते या मतिः सा गतिः" अन्त में जैसी मति रहती है, वैसी ही गति होती है। अतः अन्त समय मंगलमय होना चाहिये, अन्त में भगवान् का ही स्मरण चिन्तन करना चाहिये। शास्त्र ज्ञान अन्त समय को ही बनाने के निमित्त है। आपने वर्ष भर परिश्रम किया और अंत में जब परीक्षा का समय आया तो आप सो गये किसी प्रकार प्रश्न पत्र न लिख सके, लिखे भी तो अशुद्ध लिखे, तो आपका वर्ष भर का श्रम व्यर्थ गया। इसलिये समस्त प्रयत्न अन्तकाल के ही निमित्त होते हैं। एक कोई बड़ा भवन है, उसमें एक ही द्वार है। आपकी आँखों में पट्टी बाँधकर आपसे कह दिया गया है, तुम बाहर निकल जाओ। तुम दीवार के सहारे-सहारे हाथ से टटोलते हुए चल रहे हो। जब द्वार समीप आ गया, तो आप सिर खुजाने लगे या हाथ से और कार्य करने लगे। दिवाल को टटोलना तो छोड़ दिया। पैर बढ़ाते गये। द्वार निकल गया। फिर आपने दिवाल का सहारा ले लिया तो फिर आपको भवन का पूरा चक्कर लगाना पड़ेगा। द्वार पर आकर चूक गये सो चूक ही गये। इसी प्रकार हम इस संसार में नेत्रों पर पट्टी बाँधे यात्राकर रहे हैं। पता नहीं मृत्यु किस समय आ जाय, अतः दिवाल को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। खुजली हो भी तो जहाँ के तहाँ खड़े होकर खुजली मिटाकर तब दिवाल के सहारे से ही चलना चाहिये। एक क्षण को भी दिवाल का सहारा न छूटे। पता नहीं कब द्वार आ जाय। इस पर जो सदा सर्वदा भगवन्नाम का भगवत् रूप का भगवान् की लीलाओं का भगवद्धामों का निरन्तर सहारा ले कर चलते हैं वे द्वार आ जाने पर—मृत्युकाल आ जाने पर—उससे पार हो जाते हैं। देहरूपी भवन से—संसाररूपी कारावास से-बाहर हो जाते हैं। समस्त प्रयत्न अन्त समय को बनाने के ही

निमित्त होते हैं। आप चाहे जैसे बोलते हों किन्तु ध्वनि संचय यन्त्र (टाइप रिकार्ड) के सम्मुख जैसे बोलोगे, ठीक वैसी ही ध्वनि आवेगी। छायाचित्र यन्त्र (कैमरा) के सम्मुख अन्त में जैसी आप की आकृति होगी वैसा ही चित्र आ जायगा। अन्तकाल में जैसा स्मरण पुरुष करता है वैसी ही उसकी गति होती है। पुरन्जन स्त्री की चिंता करते-करते मरा था अतः विदर्भ देश के राजा की राजकुमारी के रूप में उत्पन्न हुआ। जीवन भर हम जैसी भावना करते रहते हैं अन्त समय वैसे ही भाव आ जाते हैं। आप जीवन भर पाप करते रहो और अन्त समय में चाहो, भगवत् स्मरण हो जाय, तो असम्भव है। आप जीवन भर भगवान् का स्मरण करो। अन्त समय में कफ वात पित्त से कंठ अवरुद्ध हो जाय। और आप भगवत् स्मरण करने में असमर्थ हो जायँ, तो भगवान् कहते हैं—"उस समय भक्त के बदले मैं स्मरण करता हूँ और उसे संसार सागर से पार करता हूँ।"

भरत जी ने जीवन भर भगवत् स्मरण किया, किन्तु प्रारब्ध वश उनकी अन्त समय में मृग-शावक में आसक्ति हो गयी। मरते समय भी मृग का ही ध्यान करते-करते प्राणों का परित्याग किया, अतः उन्हें मृग बनना पड़ा। तो क्या उनका सब भजन निष्फल गया? ऐसी बात नहीं है, कल्याण कृत कर्म कभी निष्फल नहीं जाता। मृग योनि में भी वे तपस्या करते हुए भगवत् चिन्तन करते रहे। मृग शरीर में भी मरते समय स्पष्ट भगवन्नामों का उच्चारण करते हुए गंडकी के जल में शरीर परित्याग किया, सो ब्राह्मण वंश में जड़ भरत होकर उत्पन्न हुए और फिर मुक्त हो गये। अन्त समय में मृग में आसक्ति होने से केवल एक जन्म अधिक लेना पड़ा। इसलिये मुमुक्षु को निरन्तर भगवत् चिन्तन और स्मरण में ही समय बिताना चाहिये।

पता नहीं मृत्यु किस समय आ जाय। क्योंकि मृत्यु कह कर नहीं आती। अकस्मात् बिना सूचना दिये ही सहसा आ धमकती है, और फिर किसकी बात सुनती नहीं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने अपना यह सातवाँ प्रश्न किया कि प्राण त्यागते समय आपको किस प्रकार जानें तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! अन्तकाल में जो मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है।"

अर्जुन पूछा—"आपको ही क्यों प्राप्त करता है?"

भगवान् ने कहा—"भाई, किसी भी पत्रालय में तुम अमुक आदमी का पता लिखकर पत्र डाल दो, तो वह पते वाले व्यक्ति के ही पास पहुँचेगा। इसलिये जो मेरे जिस रूप का राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन सगुण अथवा निर्गुण का ध्यान करेगा, उसी को प्राप्त हो जायगा। इसमें तुम तनिक भी सन्देह मत करो। यह निश्चित ध्रुव सिद्धान्त है।"

अर्जुन ने पूछा—"आपका स्मरण करने वाला तो आपको प्राप्त होता है, यह बात संशय रहित है, किन्तु मरते समय आपका ध्यान न करके किसी दूसरी वस्तु का ध्यान करता हुआ मरे, तो उसकी क्या गति होगी?"

भगवान् ने कहा—तुम को बता तो दिया, मरने के समय पुरुष जिस-जिस भाव से भावित रहेगा, उसी-उसी वस्तु को प्राप्त होगा। जैसे देवता की भावना करेगा, देवलोक को प्राप्त करके देवता बन जायगा। पितरों की भावना करेगा पितर बन जायगा। भूतों की भावना करेगा, तो भूत लोग आकर उसे अपने लोक में ले जाकर भूतों में सम्मिलित कर लेंगे। परिवार के लोगों का चिन्तन करते हुए मरेगा, तो परिवार में ही बालक

वनकर उत्पन्न होगा। वृक्ष में मन भटक गया उसमें आसक्ति हो गयी तो वृक्ष बनेगा। कहीं धन गाड़ दिया तो धन में आसक्ति हो गयी, तो धन का रक्षक सर्प या यक्ष बनकर उसकी रक्षा करेगा। सारांश यह है, कि अन्त समय में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागेगा उसे उसी भाव की प्राप्ति होगी।

अर्जुन ने पूछा—ऐसा क्यों होता है ?

भगवान् ने कहा—यह पुरुष भावमय ही है। मनुष्य जीवन भर जिस भाव का चिन्तन करता रहता है, अन्त में उसे स्मरण भी उसी का आता है।

अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवान्! जीवन में अनेकों वस्तुओं से सम्बन्ध होता है, अनेक लोगों की संगति होती है। पता नहीं मरते समय किसका स्मरण हो जाय, किसकी ओर चित्त चला जाय। यदि संसारी लोगों का स्मरण हुआ, संसारी लोगों के प्रति चित्त चला गया, तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये, जिससे मरते समय संसारी लोगों में मन न जाय ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

देह भाव वश मिलै भावना जैसी जाकी।
मिलै देह तस ताहि भावना तैसी ताकी॥
अन्त काल में जिनि-जिनि भावनि सुमिरन करिकें।
तिनि-तिनि के अनुरूप प्राप्त होवै नर मरिकें॥
जैसी जाकी मति बनै, तैसी ताकी होहि गति।
सदा भाव भावित रहै, वही अन्त में बनै मति॥

इसलिये भगवत् स्मरण भी करो और युद्ध भी करो

[४]

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानु चिन्तयन् ॥*

(श्री० भग० गी० ८ अ० ७,८ श्लो०)

छप्पय

नरको सुमिरन करै अन्त में नर ही होवै।
तैसो देखे स्वप्न यादि करिकें जो सोवै॥
तातें सबई समय करो सुमिरन ई मेरो।
मेरो सुमिरन करै होहि जो हित अति तेरो॥
मेरो सुमिरन युद्ध अरु, संग करो रन में प्रविसि।
मोमें मन धी अरपि कें, प्राप्त होहि मोकूँ अवसि॥

---

* इसलिये तू सभी काल में मुझे ही स्मरण कर साथ ही युद्ध भी कर। ऐसा करने पर मेरे ही अर्पित करदी है मन और बुद्धि ऐसा होकर तू मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं ॥७॥

हे पार्थ ! जो पुरुष अन्य ओर न जाने वाले चित्त से अभ्यास योग से युक्त होकर निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता है, वह मुझ परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ॥८॥

अन्तःकरण का स्वभाव है, कुछ न कुछ स्मरण करते रहना। अब जिस वस्तु का स्मरण करते हैं, उस समय मन तन्मय हो जाता है, उसी का स्मरण बना रहता है। एक महात्मा थे, स्वाँस-स्वाँस पर वे राम-राम रटते थे, एक बार उन्हें हलुआ खाने की इच्छा हुई। मन को बहुत समझाया माना ही नहीं तो उन्होंने बड़े श्रम से परिश्रम करके पैसा जुटाये हलुआ बनाया मिट्टी मिला कर मन को खाने को कहा। कंठ में न जाय, तो उसे बल पूर्वक ठूँसते। कहते—"भगवान् का स्मरण छोड़कर हलुए का स्मरण करता है।" फिर उनका मन उधर गया ही नहीं।

जो सर्वदा भगवत् स्मरण करते रहते हैं। उन्हें फिर भगवान् के अतिरिक्त कुछ अच्छा ही नहीं लगता। राजा जनक से महर्षि हरि ने सर्वश्रेष्ठ भगवत् भक्त के लक्षण बताते हुए कहा है—कि जिससे कोई कहे कि हम तुम्हें त्रिभुवन की राज्यलक्ष्मी दे देंगे आप आधे क्षण या आधे पल को भगवान् के स्मरण से हट जाइये, तो इतना भारी प्रलोभन पाने पर भी जो भगवान् के चरण कमलों की स्मृति आधे क्षण या आधे पल को भी दूर होना नहीं चाहता। जो निरन्तर भगवत् चरणारविन्दों की सन्निधि में रह कर भगवत् स्मरण में संलग्न बना रहता है। त्रिभुवन की राज्य लक्ष्मी को तो वह ठुकरा देता है; किन्तु आधे पल को भी भगवत् स्मृति का तार नहीं तोड़ता वास्तव में वही पुरुष भगवत् भक्त वैष्णवों में अग्रगण्य तथा सर्वश्रेष्ठ भगवत् भक्त है।"

भगवत् भक्त चाहता है, मरते समय मेरा मन मधुप भगवत् चरणार विन्दों के रस पान में ही संलग्न रहे, मरते समय मेरी जिह्वा सुमधुर भगवन्नामों का ही गान करती रहे, मरते समय मेरा चित्त चवरीक माखन चोर की माधुरी का ही रसास्वादन करता रहे क्योंकि मरते समय उपासक जिस भाव में भावित

रहेगा देह त्यागने के अनन्तर उसी भाव को प्राप्त होगा। मरते समय वही बात स्मरण आवेगी जिसका जीवन भर अभ्यास किया हो। अतः मुमुक्षु को एक पल क्षण ऐसा नहीं बिताना चाहिये कि जो भगवत् स्मरण से रहित हो। तभी मरण समय में उसे भगवत् स्मृति रह सकती है।

एक संस्कृत पाठशाला थी, गंगाजी के किनारे कच्छपतीर्थ में। वहाँ पर एक मौनी महात्मा रहा करते थे। वे हर समय मुख से राम-राम उच्चारण किया करते थे। नाम उच्चारण करते-करते उन्हें ऐसा अभ्यास हो गया था, कि सुप्तावस्था में भी उन्हें नाम स्मरण होता रहता था। केवल शौच जाते समय वे अपनी जिह्वा को दाँतों से दबा लेते थे, जिससे शौच के समय-अशुद्धावस्था में-मुख से भगवन्नाम न निकले।

एक दिन एक छोटे विद्यार्थी ने पूछा—"बाबा! आप प्रत्येक समय रामनाम क्यों लेते रहते हैं?"

उन्होंने नाम लेते-लेते ही लिखकर बताया कि—"प्रत्येक समय इसीलिये भगवन्नामोच्चारण करते रहते हैं, जिससे मरते समय नाम का उच्चारण करते हुए मरें।"

उस लड़के ने कहा—"बाबा! शौच होते समय ही मर गये तब क्या होगा?"

मौनी महाराज ने अपने दोनों कान पकड़े उसके उपदेश को धारण किया और अब वे शौच के समय भी भगवन्नाम का स्मरण करते रहते थे। मृत्यु कहकर तो आती नहीं। पता नहीं, किस समय आ जाय, अतः प्रत्येक समय भगवत् स्मरण करते रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—ऐसा कौन सा उपाय करना चाहिये, जिससे अन्त समय में आपका ही स्मरण

हो, तो इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—"अर्जुन! पुरुष जिसका निरन्तर स्मरण करता रहता है, मन उसी में तन्मय हो जाता है, अतः मन को मेरा स्मरणमय बना ले।"

अर्जुन ने पूछा—"आपके स्मरणमय मन कैसे बन सकता है?"

भगवान् ने कहा—"यदि खाते, पीते, सोते, जागते, उठते, बैठते चलते, फिरते सभी समय निरन्तर मेरा ही स्मरण प्राणी करता रहे, तो उसका चित्त 'मच्चित्त' हो जायगा, उसका मन मन्मय हो जायगा। ऐसे व्यक्ति को मरण समय भी मेरा ही स्मरण होवेगा। अतः सब समय तू मेरा ही स्मरण करता रह यही अंत समय में मेरा स्मरण होने का एकमात्र उपाय है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह उपाय तो बहुत ही कठिन है। निरन्तर भला आपका स्मरण कैसे संभव है। शरीर तो वासनामय है। चित्त तो चंचल है। कितनी भी साधना करो। चित्त कभी न कभी तो चंचल हो ही जाता है। केवल स्मरण ही करते रहना तो हो नहीं सकता। जैसे केवल सत्तू नही फांके जा सकते, उसके साथ नमक मीठा कुछ भी तो लगाव-उपसेवन-चाहिये अतः आपके स्मरण के साथ-साथ कोई ऐसा भी कार्य बताइये जिससे वह कार्य भी होता रहे, आपका स्मरण भी होता रहे।"

भगवान् ने कहा—"सब समय तुम निरन्तर मेरा स्मरण भी करते रहो और युद्ध भी करते रहो।"

यह सुनकर अर्जुन हँस पड़े और बोले—'यह महाराज! आपने अच्छा कार्य बताया। अब तो युद्ध का समय है, अब तो यह हो सकता है, कि मुख से आपके नामों का स्मरण करता रहूँ, मन से आपकी त्रिभंगललित छटा का स्मरण करता रहूँ और हाथ में धनुष बाण लेकर युद्ध करता रहूँ, किन्तु प्रत्येक समय तो युद्ध नहीं

किया जाता। कभी-कभी मन में काम के भी भाव जागृत हो जाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"काम के भाव जागृत हो जायें तो तब भी मेरा स्मरण न छोड़ो और काम के साथ युद्ध भी करते रहो।"

अर्जुन ने कहा—"कभी क्रोध भी आ जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"क्रोध भी तो शत्रु ही है, मेरा स्मरण करते हुए उससे भी लड़ते रहो।"

अर्जुन ने कहा—"कभी लोभ पीड़ा देता है, कभी मोह हो जाता है, कभी मद आ जाता है कभी मत्सर उपद्रव करता है, उस समय क्या करें ?"

भगवान् ने कहा—"अब तुम्हें बार-बार क्या बतावें ये सभी शत्रु हैं, अपने स्मरण को चालू रखते हुए इनके साथ युद्ध करते रहो।"

अर्जुन ने कहा—"यह तो ठीक है, किन्तु जब तक शरीर है, तब तक कर्तव्य से भी विमुख नहीं हुआ जाता। बच्चे का विवाह है, कन्या की सगाई है, नित्य नैमित्तिक कर्म है। यज्ञ है, दान है, व्रत हैं, कृषि है, गोरक्षा है, व्यापार है। अध्ययन अध्यापन ये भी तो सब शरीर के साथ लगे हैं। कर्तव्य का पालन तो करना ही पड़ता है।"

भगवान् ने कहा—तुम्हें कर्तव्य पालन से रोक कौन रहा है ? मैं तो आरम्भ से ही तुमको कर्तव्य पालन के लिये प्रेरित कर रहा हूँ। बारम्बार मैंने यही कहा है उठकर खड़े हो जाओ, युद्ध करो, युद्ध से हटो मत, कर्तव्य समझकर करो। दुख-सुख की हानि-लाभ की जय-पराजय की चिन्ता मत करो। अपना कर्तव्य पालन करो किन्तु मेरे चिन्तन के सहित। मेरा चिन्तन-अनुस्मरण-मुख्य कार्य है, युद्ध करना-वर्णाश्रम धर्म का पालन

करना—गौण है। अर्थात् वर्णाश्रम धर्म पालन करना इसीलिये है कि सतत मेरा स्मरण बना रहे। जैसे रोटी, भात मुख्य भोजन है पेट भरने के साधन हैं। दाल साग उसका उपसेचन है, लगाव है। जब तक दाल न हो, साग न हो, चटनी न हो तब तक रोटी भात तृप्तिपूर्वक खाये ही नहीं जा सकते। भात रोटी के लिये जैसे दाल, साग, चटनी, नमक मीठा आवश्यक है, इसी प्रकार मेरे चिन्तन के लिये युद्ध करना आवश्यक है। युद्ध न करोगे, तो ये काम क्रोधादि शत्रु तुम्हारे स्मरण में विघ्न उपस्थित करेंगे। अतः स्वधर्म पालन रूपी कर्तव्य को पालन करते हुए निरन्तर मेरा स्मरण करते रहो। मेरा स्मरण ही मुख्य कार्य है, उसी की सिद्धि निमित्त युद्ध करना पडता है, कर्तव्य कर्मों के साथ जूझना पडता है। समझ गये मेरी बात को ?

अर्जुन ने कहा—"हाँ, भगवन् समझ गया। आपकी अभिप्राय यही कि मन और बुद्धि को तो आपमें अर्पण करदें और कर्तव्य कर्मों को कर्मेन्द्रियों द्वारा करते रहें।"

प्रसन्न होकर भगवान् बोले—तुम्हारा बेटा जिवे। हाँ, यही मेरा अभिप्राय है, कि तुम यदि सतत मेरा स्मरण करते हुए युद्ध रूपी कर्तव्यों का भी पालन करते रहोगे तो अन्त में निःसंदेह मुझे ही प्राप्त कर सकोगे। क्योंकि बन्ध मोक्ष का कारण तो मन ही है न ? तुमने अपने मन को अपनी बुद्धि को—समस्त अन्तःकरण को—तो मेरे अर्पण कर ही दिया है। अतः कर्तव्य कर्मों से अन्तःकरण की वासनायें मिट जायँगी। निर्वासना हुआ अन्तःकरण मुझे ही प्राप्त हो जायगा। इसमें तुम तनिक भी संशय मत करना। यह असंशय बात है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! आपने मेरे सातों प्रश्नों का उत्तर दे दिया। मैं समझ गया ब्रह्म रूप में भी आपही हैं, अधि-आत्मा

रूप में भी आपही हैं, कर्म भी आपका ही स्वरूप है। अधि-भूत रूप में भी आप ही विस्तृत हैं। अधि-दैव रूप में भी आपही करते कराते हैं। अधि-यज्ञ रूप भी आपका ही नाम है। अब यह और बतादें कि मृत्यु के समय आपका चिन्तन करने से किस फल की प्राप्ति होगी।

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई, मैं बता तो चुका हूँ, जिस भाव को चिन्तन करते हुए पुरुष शरीर का त्याग करता है, उसी भाव को वह प्राप्त होता है। तो हे पार्थ! मेरा अनुचिन्तन करने से से मुझ दिव्य परमपुरुष को ही पुरुष प्राप्त होता है। किन्तु उसमें एक शर्त है।"

अर्जुन ने पूछा—वह कौन सी शर्त है?

भगवान् ने कहा—मेरा अनुचिन्तन करने वाला मुझ दिव्य परम पुरुष को अवश्य प्राप्त करेगा यदि उसका चित्त किसी अन्य विषय में न गया तो।

अर्जुन ने पूछा—चित्त अन्य विषय में न जाय इसका भी उपाय तो आपको ही बताना पड़ेगा।

भगवान् ने कहा—हाँ, उपाय भी बताता हूँ। निरन्तर के अभ्यास करने से विषयों से वैराग्य करने से, जो निरुद्ध हुए मन की एकाग्रता रूप समाधि प्राप्त होगी। उस समाधि के कारण चित्त अन्य विषयों की ओर नहीं जायगा।

अर्जुन ने पूछा—"आप प्रभो! अपने उस प्राप्तव्य स्वरूप का कुछ विस्तार से वर्णन करें।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अन्तकाल में अभ्यासयोग समाधि से भगवान् का स्मरण करते हुए जिस भगवत्स्वरूप को प्राप्त होते है उसका जैसे भगवान् ने वर्णन किया है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

योग और अभ्यासयुक्त चित ह्वैके प्रानी।
इत उत चित्त न जाइ करै नहिं जो मनमानी॥
भटकन मन नहिं देइ करै चिन्तन नित मेरो।
होवै मृव कल्यान फँसे मन मोंमें तेरो॥
जो कोई ऐसो करै, शान्त चित्त चिन्तन करत।
परम प्रकाश स्वरूप जो, दिव्य पुरुष तैं सो मिलत॥

मरण काल में प्राण त्यागने की विधि

[५]

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाण काले मनसा चलेन भक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतंपरं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ६, १० श्लोक)

छप्पय

जो मोकूँ सरबज्ञ समुझि नित-नित हिय चिंतत।
पुरुष पुरान महान नियन्ता सबके समुझत॥
सूक्षम तैं हू सूक्ष्म थूल तैं थूल कहाऊँ।
धारन पोषन करूँ नहीं करता कहलाऊँ॥
हौं अचिन्त्य रवि सम बरन, दूर अविद्या तैं रहूँ।
शुद्ध सच्चिदानंद घन, करि सुमिरन पुनि-पुनि कहूँ॥

---

* जो पुरुष कवि, पुराण, सर्वनियन्ता, अत्यन्त ही सूक्ष्म, सबके धारण करने वाले, आदित्य वर्ण वाले, अविद्या से परे तथा अचिन्त्य रूप वाले मेरा स्मरण करते हैं ॥९॥

वह भक्तिमान् पुरुष अन्तकाल में योग बल द्वारा अचल मन से भ्रुकुटी के मध्य भाग में प्राण को भली भाँति स्थापित करके मेरा स्मरण करता हुआ मुझ दिव्य स्वरूप पुरुष को प्राप्त होता है ॥१०॥

संसार में सब कुछ अभ्यास से सीखना सरल है, किन्तु मरना सीखना कठिन कार्य है, जिसने मरना सीख लिया उसने सब कुछ सीख लिया लोग बताते हैं, मृत्यु काल में जब शरीर से प्राण निकलते हैं, तो उस समय प्राणी को अत्यधिक कष्ट होता है। जैसे सहस्र-सहस्र बिच्छू एक साथ काट लें उनका जितना कष्ट होता है, उससे भी अधिक कष्ट तब होता है, उससे भी अधिक कष्ट तब होता है जब सम्पूर्ण शरीर से प्राण खिचते है। अपान-वायु गुदा में रहती है, जब वही विकृत होती है, तो समान वायु सन्तुलन खो देती है तभी प्राण निकल जाते हैं। इस शरीर में नाक के दो, आँख के दो, कानों के दो और एक मुख का ऐसे सात छिद्र ऊपर के मल और मूत्र त्यागने के दो नीचे के ऐसे नौ द्वार होते हैं। एक सिर में भी द्वार होता है, उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। जब छोटा बच्चा पैदा होता है, तो उसके सिर में एक बहुत ही कोमल स्थान रहता है, वह लुपलुप करता रहता है, वह इतना कोमल होता है कि अँगूठे से दबाओ तो फूट जाय। शनैः शनैः जब शरीर में मल का संचय होने लगता है तो वह स्थान मलावृत्त होने से कड़ा पड़ जाता है। उसी को ब्रह्मरन्ध्र या दशम द्वार कहते हैं। जो पापी पुरुष होते हैं, उनका प्राण तो मल द्वार से या मूत्र द्वार से निकलता है। जो साधारण होते हैं, उनका प्राण ऊपर के सात द्वारों में से किसी एक से निकल जाता है, किन्तु योगियों का प्राण ब्रह्माण्ड को भेदकर दशम द्वार से निकलता है। नाड़ी शुद्धि की क्रिया से जब समस्त नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, शरीर मल रहित-निर्मल-बन जाता है, तब वह द्वार खुल जाता है, तनिक बल लगाने से खोपड़ी फट जाती है, प्राण निकल जाते हैं। साधारण लोगों के लिये यह सम्भव नहीं, जिन्होंने अनेक जन्मों में कुन्डलिनी योग का अभ्यास किया है,

उन्हीं के लिये सम्भव है। हमारे सम्पूर्ण शरीर में ७२ हजार नाड़ियां हैं, उनमें से ३ सर्व प्रधान हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना। (चन्द्रनाड़ी) इंडानासिका के बायीं ओर पिंगला (सूर्य नाड़ी) दायीं ओर है, सुषुम्ना मध्य में है। हमारी जो रीढ़ की टेढी हड्डियों का समूह है टेढ़ा होने से उसका नाम बक्र नाल है। उसके भीतर से एक अत्यन्त ही सूक्ष्म नाडी गई है। वह इतना सूक्ष्म है कि किसी भी के द्वारा मानव दृष्टि गोचर नहीं हो सकता। कमल की डंडी का तोड़ों उसमे जो कमल नाल तन्तु बहुत ही सूक्ष्म होते है, उसका भी सहस्रवां भाग–इतना सूक्ष्म वह नाड़ी होती है, वह मस्तिष्क से गुदापर्यन्त है। उसी नाड़ी में कमल के आकार के ६ चक्र बन गये हैं। उन्हें योग की परिभाषा मे षट चक्र कहते हैं। रीढ़ की अन्तिम नोंक गुदा में ही है। समस्त नाड़ियों का जाल वहीं एकत्रित होता है। रीढ़ की जो कसेरुकायें हैं, उन्हीं के रन्ध्रों से नाड़ियां निकल कर सम्पूर्ण शरीर में छायी हुई है। गुदा में मूल आधार रहने से उस प्रथम चक्र को मूलाधार चक्र कहते हैं। जिन लोगों ने योगबल से इन चक्रों का साक्षात्कार किया है, उन योगिराजों ने इनका बड़ा विशद वर्णन किया है। उनके रंगरूप वर्ण, शक्ति, शिव, पत्र आदि का ऐसा वर्णन किया है मानों उन्होंने इन सबको प्रत्यक्ष देखा हो। षट्चक्रों का सक्षेप में वर्णन इस प्रकार है-पहिला मूलाधार चक्र हैं, वह त्रिकाण है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये ही तीन कोंण है। इस चक्र के बीच में स्वयम्भू नाम की शिवलिंग है, जो कोटि सूर्यों के सदृश प्रभा वाला है। यह चार पत्रों वाला कमलाकार है। उन चार पत्रों वं, श, पं, सं, ये चार वर्ण हैं। इसकी आभा हेमवर्ण के सदृश है, स्वयंभू लिंग शिखाकार है। इसी लिंग में ३॥ वलय

लपेटा लगाकर अपनी पूँछ को मुख में दाबे हुए कुंडलिनी शक्ति सुषुप्तावस्था में अवस्थित है।

इससे ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र है, ये ६ दल वाला हीरा की प्रभा वाला चक्र है, इनके ६ पत्रों में बं, भं, मं, यं, रं, लं ये वर्ण हैं। यहाँ परलिङ्ग अवस्थित है।

मूलाधार तो गुदा प्रदेश हैं, स्वाधिष्ठान नाभि और गुदा के बीच में है, तीसरा मणि पूरक चक्र नाभि प्रदेश में अवस्थित है। मेघ और विद्युत की आभा वाला बड़ा तेजस्वी चक्र है। मणि के समान उससे भिन्न वर्ण वाला होने से इसे मणि पूरक कहते हैं। इसमें दस दल या पत्र है। उन दश पत्रो में डं, ढं, णं, तं, थं, दं, ध, नं, प, फं ये दश वर्ण हैं। इसके अधिष्ठातृ देव शिव हैं।

नाभि से ऊपर हृदय में अनाहद चक्र है। उदय हुए आदित्य के सदृश इसकी आभा है। यह द्वादश दल वाला चक्र है। इसके १२ पत्रो में कं, ख, गं, घ, ङं, च, छ, जं, झं, ञं, टं, और ठं ये बारह वर्ण हैं। इसके मध्य मे वरण नामक लिंग है। सहस्रों सूर्यों के सदृश उसकी प्रभा है। शब्द ब्रह्ममय होने से अनाहत शब्द यही से होता है।

इससे ऊपर पाँचवा कंठ में विशुद्ध चक्र है। इसमें सोलह पत्र हैं। यह षोडश दल वाला चक्र धूम्रवर्ण का बहुत प्रभा वाला है। यह जीव को हंस रूप के दर्शन से विशुद्धि करता है इसलिये इसे विशुद्ध चक्र कहते हैं इसके सोलह दलों में अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औ, अं, अः ये षोडस स्वर हैं।

इससे ऊपर दोनों भौंहों के मध्य में आज्ञा चक्र है। यह दो दल वाला चक्र है। इसके दोनों दलों में क्षं, और त्र ये दो वर्ण

हैं। यहीं गुरु की आज्ञा से जीव का उद्धार होता है। इससे ऊपर सहस्रार चक्र है। उसी में होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा जीव कल्याणत्व को प्राप्त होता है।

साधन द्वारा मूलाधार में प्रसुप्त पड़ी कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करना होता है। जाग्रत हुई कुंडलिनी शक्ति सुषुम्ना के अवरुद्ध मार्ग को खोल देती है उसी मार्ग द्वारा अपने चक्र के मातृ अक्षरों को अधिष्ठातृ देव को वहाँ की शक्ति को अपने में विलीन करती हुई गुदा के मूलाधार चक्र से चलकर लिंग के मणिपूरक चक्र मे आती है। वहाँ के अधिष्ठातृ देव शक्ति वर्ण अक्षरों को भी लीन करती हुई नाभि के मणि पूरक चक्र में आती है, उसी प्रकार वहाँ से भी लीन करती हुई हृदय के अनाहद चक्र में आती है, अनाहद से फिर कंठ के विशुद्ध चक्र में तब दोनों भौंहों के मध्य वाले आज्ञा चक्र में आती है। उसके पश्चात सहस्रार चक्र में ब्रह्म साक्षात्कार होता है, जीव कृत-कृत्य हो जाता।

प्राण त्यागते समय बड़ी सावधानी से मूलाधार से वायु को उठाकर क्रम-क्रम से कंठ तक लाना चाहिये। कंठ में बहुत साधानी रखने की आवश्यकता है, क्योंकि कंठ से ही ऊपर सात द्वार है। तनिक सी असावधानी होने पर न जाने किस द्वार से प्राण निकल जायँ। अतः बहुत सावधानी से शनैः-शनैः दोनों भौहों के बीच आज्ञा चक्र में प्राणों को लाना चाहिये। आज्ञा चक्र में आ जाने से फिर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता समस्त प्रयत्न प्राणों को आज्ञा चक्र तक लाने के ही लिये हैं। यही योगियों के प्राण त्याग की प्रक्रिया है।

महारानी सतीजी ने दक्ष के यज्ञ में इसी प्रक्रिया से अपने

प्राणों का परित्याग किया था। श्रीमद्भागवत में उसका वर्णन इस प्रकार है--

सतीजी ने जब प्राण त्याग का निश्चय कर लिया, तो पहिले तो उन्होंने वाणी का संयम करके मौन धारण कर लिया। वे उत्तर दिशा में (जिधर कैलाश में उनके पति शिवजी थे) भूमि पर बैठ गयीं। (प्राण त्यागते समय शरीर और भूमि के बीच अन्तराल न रहना चाहिये ऊपरी मन्जिल पर या खाट अथवा तख्त पर शरीर न छोड़े) फिर उन्होंने आचमन किया। तदन्तर (मंगल सूचक) पीला वस्त्र ओढ़कर दोनों नेत्र बन्द कर लिये (बाहरी वस्तुओं से दृष्टि हटाली) फिर आसन मार कर प्राण त्यागने को उद्यत हो गयी। पहिले उन्होंने आसन को स्थिर किया फिर प्राणायाम के द्वारा प्राण और अपान को एक रूप करके (गुदा के मूलाधार से प्राणों को लिंग के स्वाधिष्ठान चक्र में होती हुई नाभि के मणि पूरक चक्र में लायीं) फिर उसे नाभि के मणि पूरक चक्र में स्थित किया। फिर उदान वायु को नाभि चक्र से ऊपर उठाकर शनैः-शनैः बुद्धि के साथ हृदय में स्थापित किया। इसके अनन्तर अनिन्दिता सतीजी उस हृदय स्थित प्राण वायु को कंठ मार्ग से दोनों भृकुटियों के बीच में ले गयी। जब प्राण भृकुटियों के बीच में पहुँच गये तब महान् पुरुषों द्वारा भी पूजित शंकरजी ने सतीजी के जिस शरीर को प्रेम और आदर के सहित अपनी गोदी विठाया था। उसी परम पावन शरीर को शंकर जी के अपमान करने के कारण दक्ष पर--कुपित होकर, उसे त्यागने की इच्छा से महामनस्विनी सती जी ने अपने सम्पूर्ण अंगों में वायु और अग्नि की धारणा की। उस समय वे केवल अपने प्राण नाथ जगद्गुरु भगवान् सदा शिव के चरण कमल मकरन्द का ही चिन्तन कर रही थीं। उन्हीं

का प्रेम पूर्वक चिन्तन करते-करते उन्होंने संसार के सभी भावों को भुला दिया, उन्हें केवल अपने पति के चरणारविन्दों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता था। इस चिन्तन से वे सर्वथा दोष रहित अभिमान से मुक्त हो गयीं। तदन्तर उनका शरीर तुरन्त योग की अग्नि से जलकर भस्म हो गया।

ज्ञान से--भगवद् पादारविन्दों के ध्यान से जिनके समस्त कल्मष दग्ध हो गये हैं, ऐसे भगवद् भक्तों को ही इस प्रकार सावधानी के साथ हँसते-हँसते मृत्यु सम्भव है। वे बिना किसी प्रकार के विकार के इस शरीर को ऐसे ही छोड़ देते हैं, जैसे समृद्धशाली पुरुष जीर्ण वस्त्र को हँसते-हँसते उतार कर फेंक देते हैं। उसके परित्याग में उन्हें भी तनिक भी कष्ट नहीं होता, अपितु प्रसन्नता ही होती है।

सूतजी कहते हैं--मुनियो! जब अर्जुन ने उन प्राप्तव्य पुरुष के सम्बन्ध में विशेष जानने की जिज्ञासा की, तब भगवान् ने अपने कुछ महत्व पूर्ण विशेषण बताते हुए कहा--अर्जुन! वह निरन्तर चिन्तनीय प्राप्तव्य पुरुष कवि है।

अर्जुन ने पूछा--कवि का क्या अभिप्राय है भगवन्?

भगवान् ने कहा--कवि कहते हैं, क्रान्तिकारी को। जहाँ न पहुँचे रवि। वहाँ पहुँचे कवि। अतः सर्वज्ञ का नाम कवि है, जो भूत भविष्य और वर्तमान की सभी बातों को जानता हो। जिससे कोई बात छिपी न हो। कवि भी कोई नया नहीं, जो पुराण पुरुष है।

अर्जुन ने पूछा--कितना पुराना है वह?

हँसकर भगवान् ने कहा--पुराने से तुम बुड्ढा मत समझ लेना। जो सबसे प्राचीन है, जिसका न कभी आदि है न अन्त। जो कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसे काल में कमे बाँध

सकते हैं। काल तो उसके पश्चात् हुआ है। अतः वह कालातीत परम पुराण पुरुषोत्तम हैं। साथ ही वह अनुशासिता अर्थात् जगत नियन्ता भी है।

अर्जुन ने पूछा—अनुशासिता किसे कहते हैं प्रभो ?

भगवान् ने कहा—समस्त जगत पर अनुशासन करने वाले, संसार को अपनी इच्छानुसार ले जाने वाले तथा विश्व को अपने नियन्त्रण में रखने वाले को अनुशासिता कहते हैं। वह कवि, पुराण तथा अनुशासिता होने के साथ अणोरणीयांस भी है।

अर्जुन ने पूछा—अणोरणीयांस किसे कहते हैं, अच्युत ?

भगवान् ने कहा—संसार में जा भी सबसे छोटी वस्तु हो, उससे भी अत्यन्त छोटा हो। संसार अणु में सबसे छोटा भाग है, उस अणु से भी अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है उससे भी जो सूक्ष्म हो। उनका भी उपादान कारण हो। ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर भी जो सबका धाता हो।

अर्जुन ने पूछा—सब का धाता होने का क्या अभिप्राय हैं, सर्वेश्वर ?

भगवान् ने कहा—संसार में जितने भी कर्म हैं तथा उन कर्मों के जितने फल हैं, उन सब कर्म फलों को देने वाले। किस कर्म का कौन सा फल किसे कब देना चाहिये इन सब बातों का विभाग करने वाले। अभिमत फलदाता होने के साथ ही, वह अचिन्त्य रूप है।

अर्जुन ने पूछा—"अचिन्त्य रूप का अर्थ क्या है, अनादि-निधन !"

भगवान् ने कहा—जिसके रूप का चितन न किया जा सकता हो। अर्जुन ! सोचो तो सही जिसकी महिमा अपरिमित है,

जिसके वैभव का वारापार नहीं। उसका चिंतन यह परिमित प्राणी कर ही कैसे सकता है ? ऐसा होने के साथ ही साथ वह आदित्य वर्ण वाला है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् जो अवर्ण है उसकी उपमा आदित्य से कैसे दी जा सकती है ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! यह उपमा तो उपलक्षण मात्र है। उपमा सर्वाङ्गीण नहीं ली जाती। वह तो एक देशीय होती है। यहाँ आदित्य वर्ण कहने से केवल प्रकाश की बहुलता बताने से हैं। अर्थात् जैसे सूर्य ही समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है। सूर्य न हो तो किसी वस्तु की संज्ञा ही नहीं की जा सकती। इसी प्रकार वह समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का एक मात्र प्रकाशक है। इसलिये उसे तमस परस्तात् कहा है।"

अर्जुन ने पूछा—उसे तमसपरस्तात् क्यों कहा गया है, जनार्दन !

भगवान् ने कहा है, जो महान् प्रकाशवान् होगा वह तम से-अन्धकार से, अज्ञान से परे होगा ही। मोह भय अन्धकार उसके सम्मुख टिक नहीं सकेगा। ऐसे परम प्रकाश पुरुष का जो निरन्तर चिन्तन करेगा, वह साधक उसी को प्राप्त होगा।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे प्रकाशमय स्वरूप का चिन्तन कैसे करें और उसके चिन्तन में अधिक प्रयत्न की अपेक्षा कब होती हैं इसे कृपाकर मुझे बता दें।"

भगवान् ने कहा—मरते समय ही ऐसे चिन्तन में अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है।

अर्जुन ने पूछा—मरण काल में कैसे चिन्तन करना चाहिये ?

भगवान् ने कहा—"मरण काल में यदि पुरुष भक्तियुक्त न हुआ तो सब गड़बड़ घुटाला हो जायगा। भगवत् भक्ति का एक

मात्र फल यही है, कि मृत्यु समय भगवत् स्मृति बनी रहे। जो जीवन भर मेरा सतत स्मरण करता रहा होगा उसे ही मरण समय में मेरा स्मरण हो सकता है। इसलिये अविचल चित्त से, इधर-उधर अन्य किसी में चलायमान न होने वाले मन से मेरे प्रकाशमय स्वरूप का चिंतन करे।"

अर्जुन ने पूछा—"मरण समय कैसे और किस स्थान में मन को स्थिर करके चिंतन करे ?"

भगवान् ने कहा—देखो, सूर्य की किरणों में से एक परम प्रकाशमय किरण के साथ मूलाधार में, स्थित कुंडलिनी शक्ति का सम्बन्ध है। साधारणतया वह कुंडलिनी शक्ति प्रसुप्ता वस्था में पड़ी रहती है। गुदा, लिंग, नाभि, हृदय कंठ और दोनों भौंहों के मध्य में षट हैं चक्र इतने प्रकाशमय हैं कि कोई भी प्रकाश उनके सम्मुख ठहर नहीं सकता। किन्तु जीव अज्ञान अन्धकार के कारण–मोह रूपी तम के कारण उनके महान् प्रकाश का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसीलिये वे कमल अधोमुख हुए अवस्थित रहते हैं। जब योग के साधनों द्वारा ध्यानयोग से कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत किया जाता है, तब वे कमल ऊर्ध्वमुखी होने लगते हैं। उनमें महान् शक्ति का निवास है। कोटिसूर्यो के समान उन चक्रों की प्रभा है। उन सबके तेज को पान करती हुई कुंडलिनी शक्ति मूलाधार (गुदा) से चलकर स्वाधिष्ठान (लिंग) में आती है इसी क्रम से नाभि, हृदय, कंठ में होती हुई जब दोनों भौंहों के बीच में आ जाती है, तब वहाँ अत्यन्त ही सावधानी बरतने की आवश्यकता रहती है चित्त भी चंचल न होने पावे भक्ति में तनिक भी कमी न हो मरण काल में जो एक प्रकार का भय होता है, वह भय समीप भी फटकने न पावे। यह कब होगा, जब योग का बल परिपूर्ण बना

रहेगा। ऐसी दशा में मृत्यु काल में दोनों भौंहों के बीच में प्राण को स्थिर करके, अविचल भाव से केवल जो मुझ परम प्रकाशमय दिव्य पुरुष का ही चिन्तन करते हुए प्राणों का परित्याग करेगा, वह निश्चय रूप से मुझे ही प्राप्त होगा।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! साधक को किस पद का अनुस्मरण करते हुए कैसी धारणा करते हुए प्राणों का परित्याग करना चाहिये?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने जिस पद तथा जिस धारणा का उपदेश दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

ऐसे साधन करैं भक्तियुत साधन सज्जन।
सद्गति पावैं अन्तकाल में करिकें सुमिरन॥
भ्रुकुटि मध्य में प्रथम प्रानकूँ थापित करिकें।
धारि योगबल सहित अचल आपन मन करिकें॥
ऐसे मम सुमिरन करत, हरत सकल भयभीत जो।
दिव्यरूप परमात्म हौं, परम पुरुष मय होय सो॥

प्रयाणकाल में किस पद का उच्चारण करे

[६]

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयोवीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेणप्रवक्ष्ये ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

जाइ परमपद कहें वेदविद पंडित ज्ञानी ।
जाकूँ अक्षर कहत अमर अविनाशी ध्यानी ॥
जामें करें प्रवेश वीतरागी संन्यासी ।
ब्रह्मचर्य जिहि हेतु धरें ब्रह्मचारि उदासी ॥
ता पदकूँ संक्षेप में, अरजुन ! हौं तोतें कहूँ ।
तू मेरो प्रिय भक्त है, तेरे हित सब कुछ सहूँ ॥

---

* वेदवित् पुरुष जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसे पाने की इच्छा वाले जिसके लिये ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, ॥११॥

इन्द्रियों के सब द्वारों का संयम करके, मनको हृदय में स्थिर करके मस्तक में अपने प्राण को स्थापित करके, योगधारणा में स्थित होकर—॥१२॥

उपासना में संयम का बड़ा माहात्म्य है। योग में तो धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के एकत्रीकरण को संयम बताया है, किन्तु उपासना में संयम नियमन को कहते हैं। किसी भी वस्तु को सीमा से अधिक न बढ़ने दे। सबको मर्यादा में ही रखने का नाम संयम है। इन्द्रियों का स्वभाव स्वच्छन्दगामी होने का है। वे अपने ऊपर अंकुश नहीं चाहतीं। जिह्वा नहीं चाहती हमें कोई इच्छानुसार खाने से, इच्छानुसार बोलने से रोके। जिह्वा उदर की परवाह नहीं करती इस स्वादिष्ट पदार्थ को पेट पचा सकेगा या नहीं जिह्वा इसकी चिन्ता नहीं करती। उसे तो रस लेने से काम। वह इच्छानुसार रस लेते ही रहना चाहती है। कौन सी बात कब बोलनी चाहिये, वाणी इसकी भी परवाह नहीं करती। इसी प्रकार आँखों को कौन सी वस्तु देखनी चाहिये, कौन-सी नहीं देखनी चाहिये इस पर वह प्रतिबन्ध नहीं चाहती। किन्तु इन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। ये अपनी मर्यादा में ही रहकर व्यवहार करें। इन्हें अपनी सीमा से आगे न बढ़ने दे इसी का नाम संयम है। यदि शरीर के नौ द्वारों को संयम में न रखेंगे, तो न जाने प्राण किस द्वार से निकल जायँ। अधोमार्ग से प्राण निकले तो अधोगति होगी, मध्य के द्वारों से निकले तो स्वर्गादि मध्यगति मिलेगी और सबसे ऊपर के दशम द्वार से निकले तो सदा के लिये संसार सागर से मुक्त हो जायगा। अतः इन्द्रियों को संयम में रखना अत्यावश्यक है।

वैसे तो सभी इन्द्रियाँ प्रबल हैं, किन्तु उपस्थेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय ये तीन अत्यन्त ही प्रबल हैं। क्योंकि इनका सम्बन्ध क्रमशः वीर्य, प्राण और मन से है। शरीर में ये ही प्रधान हैं। साधना में प्राणों का ब्रह्मचर्य का और मनका इन तीनों का ही संयम करना पड़ता है। इन तीनों का परस्पर में अन्योन्या-

श्रित सम्बन्ध है। प्राण के रुकने पर मन और वीर्य रुक जाते हैं, इसी प्रकार मनके निरोध होने से ब्रह्मचर्य तथा प्राणों का निरोध हो जाता है। ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर प्राण मन स्वतः ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अतः इन्द्रिय संयम सवप्रथम अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है। इन्द्रियों के संयम से ही मन तथाबुद्धि का संयत होना संयम है। अन्तकाल में इन्द्रियाँ यदि संयत हो गयीं तो प्राणों के संयमित करने में बड़ी भारी सहायता मिलती है। मनको हृदय में ही रखकर प्राणों को ब्रह्मांड के मार्ग द्वारा निकाल दे तो फिर जन्ममरण के चक्कर में नही पड़ता। इसी का उपदेश भगवान् ने विस्तार से दिया है, क्योंकि यही सर्व प्रधान गीता का विषय है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने अन्तकाल में किस पद का स्मरण करना चाहिये यह पूछा, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन! मैं तुम्हें उस पद का उपदेश करता हूँ, जिसका अन्त में उच्चारण करते हुए जो प्राणों का परित्याग करता है, तो उसे परमगति की प्राप्ति होती है। वेदों के जानने वाले विद्वान् पंडित उस पद को अक्षर कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—अक्षर क्या महाराज? अक्षर तो स्वर व्यञ्जनों को कहते हैं?

भगवान ने कहा—यहाँ स्वर व्यञ्जन जो अक्षर कहलाते हैं, उनसे तात्पर्य नहीं है। वेद का जो आदि है। जिसके बिना वेद का वेदत्व ही नहीं होता। समस्त वेद जिस एक ही अक्षर से निकले हैं, उस अक्षर से यहाँ अभिप्राय है वेद में वेदवेत्ताओं ने उसी अक्षर का निरूपण किया है और राग रहित यतिगण त्यागी तपस्वी जिस पद में प्रवेश करते हैं तथा ब्रह्मचारीगण उसी पद की प्राप्ति करने के लिये महान् दीर्घव्रत-ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

करते हैं उसी पद को मै तुमसे कहूँगा। सो भी बहुत संक्षेप में कहूँगा, क्योंकि उसका विस्तार ही तो समस्त वेदों में है।

अर्जुन ने पूछा—"उस अक्षर ब्रह्मपद का उच्चारण किस विधि से करना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"पहिले तुम उसके उच्चारण की विधि ही समझ लो। पहिले तो विशुद्ध आसन बिछाकर योग के आसन से बैठ जाय, फिर इन्द्रियों के जितने द्वार हैं, उन द्वारों को रोक ले।"

अर्जुन ने कहा—इन्द्रिय द्वार तो खुले हुए हैं, उन्हें रोके किस प्रकार ?

भगवान् ने कहा—आसन लगाकर मूल बन्द बांध ले। गुदा को ऊपर की ओर संकुचित करके गुदा द्वार को दृढ़ता से ऐडी द्वारा रोक ले। ऐड़ी के द्वारा गुदा का द्वार रोकने से नीचे के दोनों द्वार अवरुद्ध हो जाते है। फिर उड्यान बन्ध बाँधकर समान का संयम करे। जालंधर बन्ध बांधने से जितने नाड़ी जाल हैं वे सब स्वतः बंध जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के सभी द्वारों को संयमन करके मन को हृदय प्रदेश में रोक रखे। मन का स्थान ही हृदय है उसे उसी के घर में बन्दी बना दे। फिर अपने प्राणों को मस्तक में दोनों भौंहों के मध्य में स्थिर करे।

अर्जुन ने पूछा—"प्राणों को बार-बार दोनों भौंहों के मध्य में स्थिर करने को क्यों कहा जाता है।"

भगवान् ने कहा—दोनों भौंहों के मध्यभाग से उस ब्रह्मरन्ध्र का संबंध है। प्राण यदि दोनों भौंहों के बीच में निरुद्ध हो जायँगे, तो फिर उनके अधोगामी होने का भय नहीं रहेगा। वहाँ से वह सीधा ब्रह्मरन्ध्र में होकर निकल जायगा। वहीं पर योगधारणा करने की आवश्यकता है।

अर्जुन ने पूछा—"योगधारणा किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—योगधारणा समाधि का नाम है। ध्यान और धारणा को दृढ करने पर जो आत्मविषयिणी समाधि रूपा धारणा है उसी में स्थित हो जाना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—उस योगधारणा रूपी समाधि अवस्था में किस शब्द का उच्चारण करे और किसका स्मरण करे, कृपा कर इसे बताने का अनुग्रह और कीजिये। क्योंकि वाणी का तो निरोध ही हो चुका है, जो भी उच्चारण होगा, वह आन्तरिक ही उच्चारण होगा, जो भी स्मरण होगा वह भी आन्तरिक ही स्मरण होगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अन्त में किस पद का उच्चारण करे और किसका स्मरण करे। इसका जो उत्तर भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कैसे सो पद मिलै ताहिकी युक्ति बताऊँ।
अन्त समय का सुमिर तजै तन ताहि सुनाऊँ॥
जितने इन्द्रिय द्वार देह में नौ छिद्रनिकूँ।
सब द्वारनिकूँ रोकि हृदय में रोकै मनकूँ॥
जीतें मनतैं प्रानकूँ, मस्तक में धारन करै।
योगधारना में पुरुष, मेरो ई सुमिरन करै॥

प्रणव उच्चारण करते हुए देह त्याग करे

[७]

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम् ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

'ओम्' मन्त्र है ब्रह्म प्रनव एकाक्षर अनुपम ।
उच्चारन पुनि करै करै सुमिरन मम उत्तम ॥
विषयनितैं मन रोकि ध्यान मेरो ही धारै ।
बोले बात न अन्य प्रनव केवल उच्चारै ॥
जा विधि तैं जे तनु तजैं, ते नहिँ पुनि जग आइँगे ।
परम भाग्यशाली पुरुष, परमागति कूँ पाइँगे ॥

---

* जो 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ, मेरा स्मरण करता हुआ, देह को त्याग कर परलोक प्रयाण करता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है ॥१३॥

हे पार्थ ! जो अनन्यचित्त वाला होकर नित्य ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिये मैं सुलभ हूँ ॥१४॥

यह संसार चक्र अनादि काल से चल रहा है। एक ब्रह्मा अपनी आयु के सौ वर्ष पूरे करके चले जाते हैं, पुनः दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। अब तक कितने ब्रह्मा आ गये, इनकी कोई गणना नहीं। कितने ब्रह्मा और आवेंगे इसकी भी कोई गणना नहीं। ब्रह्माजी का एक दिन होता है, त्रिलोकी की प्रलय हो जाती है। ब्रह्माजी त्रिलोक को अपने उदरस्थ करके सो जाते हैं, रात्रि समाप्त होने पर ब्रह्माजी उठते ही इस त्रिलोकी को पुनः प्रकट करके अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। इसी को कल्पान्त प्रलय और कल्पादि सृष्टि चक्र कहते हैं।

महा प्रलय के पश्चात् जब दूसरे ब्रह्मा आते हैं, तो उन्हें पूर्व सृष्टि का स्मरण नहीं रहता। वे सृष्टि कैसे करें की हुई सृष्टि वृद्धि को कैसे प्राप्त हो इसका ज्ञान सम्पादन करने के निमित्त भगवान् की आज्ञा से तप करते हैं। वे सृष्टि के ज्ञान को सम्पादन करने के निमित्त अपने चित्त को एकाग्र करते हैं। समस्त चित्त की बिखरी वृत्तियों का निरोध करते हैं। तप करते-करते जब उन परमेष्टी ब्रह्माजी का मन समाहित हो जाता है तो उनके हृदयाकाश से कण्ठ तथा तालु आदि के सङ्घर्ष से रहित एक अव्यक्त विलक्षण नाद उत्पन्न होता है। उसे अनाहत नाद कहते हैं। जैसे किसी घंटे को बलपूर्वक बजा दो। तो बजाने के पश्चात् जो एक प्रकार का कुछ देर तक नाद गूँजता रहता है उसी के सदृश वह नाद होता है। अथवा एकाग्रचित्त करके दोनों कानों को भली प्रकार कसकर बन्द कर लो। तो कानों के बन्द करने पर जो शब्द सुनायी दे, वही अनाहत नाद है। जो योगीनाद की उपासना करते हैं, वे अपने चित्त की समस्त वृत्तियों को इसी नाद में लीन कर देते हैं। उस अनाहत नाद की उपासना के प्रभाव से अन्तःकरण के अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव जो

द्रव्य, क्रिया और कारक रूप मल है उसे नष्ट करके निर्मल बन जाते हैं। फिर ऐसे विशुद्ध अन्तः करण वाले योगियों का न कभी जन्म होता है और न उनकी कभी मृत्यु होती है, वे जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र से पार हो जाते हैं। वे मोक्षरूप परमगति को प्राप्त होते हैं।

वह अनाहत नाद शब्द तथा अर्थ से रहित होता है। उसमें न तो कोई स्वर व्यक्त होता है न व्यंजन। शब्द तो तभी उत्पन्न होगा जब कंठ, मूर्द्धा, जिह्वा, ओठ आदि स्थानों को वायु आहत करे। उसमें ठोकर दे। सो तो इस नाद में होता नहीं यह तो स्वर वर्ण विन्दु आदि के बिना ही ब्रह्माजी को सुनायी दिया। अब उसी अनाहत नाद से शब्द की सृष्टि होती है। पहिले जब शब्द होगा तभी नाम की संज्ञा होगी। तभी रूप दिखायी देगा। अतः सर्वप्रथम तीन मात्राओं वाला एक शब्द उत्पन्न हुआ। उसका नाम प्रणव हुआ। क्योंकि उसी आदि शब्द से ब्रह्माजी ने अपने इष्टदेव की स्तुति की। उसमें "अकार" उकार और मकार ये तीन मात्रायें थी और उसका आकार वर्तुलाकार था ॐ। उसी का नाम ओंकार हुआ। उसके मन्त्रादि, प्रणव, सत्य, विन्दु शक्ति, त्रिदैवत, सर्वजीवोत्पादक, पंचदेव, ध्रुव, त्रिक, सावित्रीत्रिशिख, ब्रह्म, त्रिगुण, गुणबीजक, आदि बीज, वेदसार, वेद, बीज, आदि अनेक नाम है।

आदि में यही त्रिमात्रा वाला शब्द हुआ। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति इसी से हुई है। तीनों गुणों की, तीनों वृत्तियों की तीनों वेदों की तीनों लोकों की, तीनों व्याहृतियों की तीनों देवों आदि की जितनी भी त्रिगुणात्मिका सृष्टि है, इसी अकार उकार तथा मकार रूप प्रणव से सम्भव है, इसी प्रणव की शक्ति से ही अब तक जो प्रकृति अव्यक्त रूप में अवस्थित थी,

त्रिगुणों में क्षोभ होने के कारण वही अव्यक्त प्रकृतिव्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है। यह ओंकार या प्रणव स्वयं अनादि है अव्यक्त है। यह ब्रह्म का वाचक है, ब्रह्मस्वरूप ही है इसीलिये इसे प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है। भगवान् का यह मुख्य नाम है, उनका अववोधक वाचक है। यही ओंकार भगवान् के हृदयाकाश में प्रकट होकर वेदारूपा वाणी को अभिव्यक्त करता है। यही सम्पूर्ण वेदों का, उपनिषदों का तथा मन्त्रों का सनातन बीज है। यही ओंकार अन्तस्थः ऊष्म, स्वर, स्पर्श, ह्रस्व, दीर्घ आदि जितने अक्षर समाम्नाय या वर्णमाला के अक्षर हैं सबका आदि बीज यही है। इसी का विस्तार चतुर्मुख ब्रह्माजी के चारों मुखों से होने के कारण ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदों की उत्पत्ति हुई।

अत: यह ओंकार ब्रह्म का वाचक है। अमूर्त भगवान की यह मूर्ति है प्रतिमा के सदृश है। ब्रह्म स्वरूप है। इसी को एका-क्षर ब्रह्म भी कहते हैं। प्राणों को दोनों भौंहों के बीच में स्थिर करके जो इस अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए प्राणों का परित्याग करता है वह साधक परम गति को प्राप्त होता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने उस पद के और फल के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! वह पद एकाक्षर ब्रह्म ओंकार है इस पद का उच्चारण करते हुए और मेरा अविछिन्न भाव से निरन्तर स्मरण करते हुए जो देह का परि त्याग करता है, उसका फल यही होता है, कि वह परमपद को प्राप्त होता है। जो गति सर्वोत्कृष्टा है जिसे परमा-गति कहते हैं उस साधक को वही गति प्राप्त होती है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जो इतनी उत्कृष्ट योग धारणा न

कर सकता हो, किन्तु श्रद्धा पूर्वक निरन्तर आपका ही चिन्तन करता रहता हो उसकी क्या गति होगी।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! मुझे पाना बड़ा दुर्लभ है, मैं साधारण उपायों से अल्प साधनों से मिलने वाला नहीं।"

अर्जुन ने कहा—यही तो मेरा प्रश्न है। आप इन सर्वसाधारण बद्ध प्राणियों के लिये बहुत दुर्लभ है, किन्तु जो भक्त हैं, उन पर तो कुछ विशेष कृपा होनी ही चाहिये।

भगवान् ने कहा—"नाम मात्र के भक्तों के लिये मैं दुर्लभ ही हूँ, जो मेरा निष्कपट अनन्य भक्त है उसके लिये सब प्राणियों के लिये दुर्लभ होने पर भी केवल उसके लिये सुलभ हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"जिस अनन्य भक्त के लिये आप दुर्लभ होने पर भी सुलभ हो जाते हैं, उस भक्त का लक्षण कृपा करके बता दें।"

भगवान् ने कहा—पहली बात तो उसमें यह होनी चाहिये कि उसका चित्त मुझे छोड़कर संसार की अन्य किसी वस्तु में फँसा नहीं रहना चाहिये। आठों प्रहर मुझमें ही जिसका चित्त लगा रहे। और जो मुझे नित्य नित्य निरन्तर ही स्मरण करता रहे।समय की काल की परवाह न करे, कि इतने दिन तो स्मरण करते हुये हो गये, भगवान् के अभी दर्शन भी नहीं हुए। काल तो अनादि है मेरा स्वरूप ही है, जितने ही दिन स्मरण हो उतने ही दिन अच्छा है। निरन्तर मेरा स्मरण अव्यग्र भाव से करे और मन में अश्रद्धा को न आने दे। सत्कार पूर्वक श्रद्धा सहित भक्ति भाव से मेरा ही चिन्तन, मनन, भजन स्मरण करता रहे। ऐसे सर्वदा समाहित चित्त भक्ति योगी के लिये मैं दुर्लभ होने पर भी सुगमता से मिल सकता हूँ। भले ही उसके प्राण

आज्ञा चक्र में आवें या न आवें। भले ही उसके प्राण ब्रह्म रन्ध्र से निकले या न निकलें। भले ही उसका कंठ वात पित्त कफ से रुँध जाने के कारण शब्द न भी निकले। प्रारब्ध कर्म समाप्त होने पर उसके प्राण निकलेंगे तो उसके स्थान पर मैं उसका स्मरण करूँगा। जीवन भर जिसने अनन्य भाव से मेरा सतत स्मरण किया है उसके लिये मैं सुलभ हो जाता हूँ। किन्तु जो अनन्य भाव से निरन्तर स्मरण करने वाला भक्त। वह मेरा भक्त भी मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

अर्जुन ने पूछा—"जो ब्रह्म रन्ध्र द्वारा दशवें द्वार से योग धारणा द्वारा शरीर त्यागते हैं उनकी तो परमागति प्राप्त होती ही है किन्तु जो आपके अनन्य भक्त हैं, उनका फिर इस संसार में जन्म होता है या नहीं?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका उत्तर जो भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मोकूँ दुलभ कहूँ नहीं मैं दुरलभ सबकूँ।
मोमें चित्त अनन्य करै तजि देवै जग कूँ॥
नित्य निरन्तर करै सदा ही मेरो सुमिरन।
होहि विस्मरन नहीं कबहुँ वातैं एकहु छिन॥
ऐसे जोगी के लिये, सदा सरबदा सुलभ हूँ।
सहज भाव तैं प्राप्य हूँ, सब भूतनि को सुहृद हूँ॥

भगवान् को प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता

[८]

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

दुःखालय यह जगत दुखी जग के सब प्रानी ।
छिनभंगुर हू कहैं सकल जोगीजन ज्ञानी ॥
पुनि-पुनि लेकें जनम फेरि पुनि पुनि ही मरनो ।
जन्म मरन छुटि जाय जतन सोई ध्रुव करनो ॥
परम सिद्धि कूँ पाइकें, होहिँ महात्मा सन्त वे ।
जनम मरन तैं छूटिकें, मोकूँ पावैं अन्त वे ॥

---

* जो महात्मा हैं और जो सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं, वे मेरे को प्राप्त करके इस क्षण भगुर और दुःख स्थान रूप पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते ॥१५॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् फिर यहीं लौटा लाने वाले हैं, किन्तु कौन्तेय ! मुझे प्राप्त होकर फिर पुनर्जन्म नहीं होता ॥१६॥

यह जगत् दुःखालय है और यह शरीर मलायतन–अर्थात्–मलका महल–है। कौन भला आदमी चाहेगा कि हम मल के निर्मित घर में रहकर दुःखों के प्रदेश रूपी नरक नगर में निवास करें। न चाहने पर भी विवश होकर प्राणियों को रहना ही पड़ता है। रहते रहते उस मल के महल में भी आसक्ति हो जाती है। कोई नहीं चाहता हम कारावास में रहकर कष्ट सहन करने पड़ें। किन्तु जिन्हें बार-बार कारावास जाना पड़ता है, उन्हें कारावास गये बिना बाहर अच्छा ही नहीं लगता कारावास में लोह के तसला और कटोरी ये दो पात्र मिलते हैं। बार-बार कारावास में आने वाला पुराना बन्दी जब अवधि पूर्ण होने पर छूटने लगता है, तब अपने साथी बन्दियों को चेतावनी दे जाता है, देखना मेरे तसला कटोरी किसी अन्य को न दें, मैं शीघ्र ही आ जाऊँगा। दुःखालय होने पर भी बार-बार आने से उनकी कारावास में आसक्ति हो जाती है। यद्यपि वहाँ सुख नहीं, किन्तु विवशता है। इसी प्रकार प्राणी संसार में दुख ही दुख पाता है, फिर भी संसार को छोड़ना नहीं चाहता। वास्तव में देखा जाय, तो संसार में दुख ही दुःख है। स्वयं दुखी होता है, दूसरों को दुख देता रहता है।

गर्भ में आते ही दुःख आरम्भ हो जाता है। गर्भ में आना ही सबसे बड़ा दुःख है। गर्भाशय मल और मूत्राशय के समीप ही होता है। मल और मूत्र के समीप ९ महीने ऐसे कारावास में रहना पड़ता है, जहाँ न शुद्ध वायु जाती है और न शुद्ध पानी तथा प्रकाश। उल्टा लटका रहना पड़ता है! सातवें महीने में गर्भस्थ बालक बाहर निकलने का प्रयत्न करता है, किन्तु निकल नहीं सकता। निकलने के श्रम के कारण वह मूर्छित हो जाता है, उसकी यह मूर्छा ६० दिन में टूटती है। माता की नाड़ी से उसकी नाभि में जो एक नाल होता है वह नाल जुटा रहता है। उसी

नाल द्वारा-मुंह द्वारा नहीं-माता जो भी कुछ खाती पीती है, उसका रस उसके पेट में जाता है, उसी से दुःख पूर्वकजीव उस काल कोठरी में भी जीता रहता है। माता यदि नमक मिरच आदि तीक्ष्ण पदार्थ खाती है, तो वे उसके कोमल शरीर में चुभते हैं। माता यदि मिट्टी, खपड़ा ऐसी बुरी वस्तु खाती है, तो वे भी उसके शरीर में सट जाते है। माता श्रम करती है, तो उसे कष्ट होता है। रोती है, शोक करती है, तो गर्भस्थ बालक को भी पीड़ा होती है। गर्भ में जब बालक होता है तो माता को भी निरन्तर कष्ट ही देता रहता है। माता का जी मिचलता रहता है उसे उबकाई आती हैं, पेट भारी हो जाता है, चलने फिरने उठने बठने में कष्ट होता है। भाँति-भाँति के उपद्रव होते हैं। स्वयं भी कष्ट भोगता है, माता को भी कष्ट देता है। पैदा होने का कष्ट तो हे भगवान्! न जाने माता कैसे सहन कर लेती है। यह स्वयं भी अत्यन्त कष्ट से निकलता है, कोई-कोई मातायें तो प्रसव वेदना से ही मर जाती है। कोई बच्चा पेट मे ही मर जाता है, कोई किसी प्रकार निकलता ही नही। माता का पेट काटकर निकालना पड़ता है। पैदा होते ही रोने लगता है, धाइ कण्ठ में उंगली डाल देती है, नाक में सलाका डालकर छींक लिवाती है। कोई नया अतिथि आवे और आते ही छींका हो, रोने लगे तो छींकना रुदन दोनों ही अशुभ है। जब पैदा होते ही असकुन हो गया तो फिर जीवन में सुख कैसे मिल सकेगा। जीवन भर कष्ट ही कष्ट सहना पड़ेगा। पैदा होते ही रोग आने लगते हैं, अब के कोई ग्रह पीड़ा पहुँचा रही है, अब के माता निकल आयी, खाँसी हो गयी, अजीर्ण हो गया। बोल तो सकता नहीं। उसे लग रही है भूख, रोता है दूध के लिये, माता उसे कड़वी घुट्टी पिला देती है। मच्छर काट रहे हैं, कह सकता नहीं। माता समझती है बच्चा

भूखा है, दूध पिला देती है। शरीर में खुजली उठी है स्वयं खुजला नहीं सकता। माता उसे वस्त्र से ढक देती है। शैया पर ही मलमूत्र त्याग देता है। मलमूत्र में लिहसरा रहता है, माता को भी कष्ट देता है, स्वयं भी कष्ट पाता है। किसी प्रकार सेड़ शीतला भूत प्रेत पिशाच पूज पाजकर चार पांच वर्ष का हुआ तो, पढ़ने का दु.ख। अध्यापक याद न होने पर ताड़ना देता है, वहाँ से भाग कर घर आता है, घर पर माता पिता ताड़ना देते हैं। सोचता है यह पढ़ना बडा कष्टप्रद है। मर जाऊँगा पढ़ूँगा नहीं। मरने का प्रयत्न करता है, किन्तु मरा नहीं जाता। किसी प्रकार राम राम करके १६, १७ वर्ष में कुछ पढ़ जाता है, अब विवाह करने की इच्छा होती है। यह दूसरी लड़की से विवाह करना चाहता है। माता पिता दूसरे स्थान पर पक्की करते हैं। इस खींचातानी में सम्पूर्ण समय चिन्ता में दुख में ही बीतता है। लड़की काली हुई कुरूपा हुई तो भी दुःख। सुन्दरी हुई स्वरूपवती हुई तो बुरे लोगों से लड़ाई करनी पड़ती है जैसे तैसे रो गाकर विवाह हुआ। विवाह क्या हुआ आपत्तियो का पहाड़ अपने सिर लाद लिया। कुछ दिन नये विवाह का चाव रहता है, फिर खटपट लड़ाई झगडा जो आरम्भ हुआ, वह मरने पर ही समाप्त होता है। विवाह एक ऐसा मोहक फल है कि जो खाता है वह पछताता है जो नहीं खाता है, वह भी पछताता है।

एक गृहत्यागी परमहंस महात्मा थे। एकान्त रहकर भगवान् का भजन करते थे। दिन में एक बार १०। ५ घरों से जाकर मधूकरी माँग लाते थे। नदी तट पर जाकर भिक्षा करली। अंजलि से पानी पी लिया। न ऊधो का लेना न माधव का देना। आनन्द से भजन करते हुए समय बिता रहे थे।

एक दिन वे भिक्षा करने गये। गाँव में बड़ा धूम धड़ाका हो

रहा था। बहुत से बाजे बज रहे हैं, स्त्रियाँ ढोलक पर गा गाकर नाच रही हैं, बहुत से लोग भोजन कर रहे हैं, कुछ आ रहे हैं कुछ जा रहे हैं। महात्मा ने पूछा—"भाई, आज यहाँ क्या है ? किस बात की धूम-धाम है ?"

लोगों ने बताया—"महाराज ! विवाह है, उसी की प्रसन्नता में यह सब कुछ हो रहा है।"

महात्मा का कभी विवाह नहीं हुआ था बालकपन से ही साधु बन गये थे। उनकी इच्छा हुई, "देखें तो सही विवाह में क्या होता है। अच्छी वस्तु हुई तो हम भी कर लेंगे।"

उन्होंने पूछा—विवाह में क्या होता है ?

लोगों ने बताया—दूल्हा मोहर बाँधकर बारात सजाकर दुलहिन के घर जाता है फिर उनका विवाह हो जाता है।

महात्मा ने पूछा—"विवाह दुलहा का होता है या दुल-हिन का ?"

लोगों ने बताया दोनों का ही साथ होता है। विवाह हो जाने पर दोनों साथ ही रहते हैं साथ ही खाते-पीते सोते-बैठते हैं। दोनों सुख-दुख में साझीदार होते हैं।

महात्मा ने पूछा—बारात कब जायगी, कहाँ जायगी ? कब विवाह होगा ?

लोगों ने कहा—"अभी बारात निकल रही है। समीप के ही गाँव में जायगी। आज आधी रात में विवाह होगा।"

महात्मा ने सोचा चलो बारात में चलकर देखें तो सही कैसे विवाह होता है, यह सोचकर वे बारात के साथ-साथ चल दिये। बारात को कन्यापक्ष वालों ने अगवानी की, मीठा शरबत पिलाया, द्वार की पूजा हुई, फिर रात्रि में भाँवर पड़ी। महात्मा सब बड़े ध्यान से देखते रहे। स्त्री पुरुषों में विवाह के समय बड़ा

उत्साह था। जब भाँवर पड़ गयीं। दुलहा दुलहिन सुंदर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित भीतर चले गये, तो महात्माजी भी लौट आये। आज दिन भर कुछ खाया भी नहीं था, इतनी दूर पैदल आये, विवाह की भीड़-भाड़ में किसी ने उनको भोजन के लिये नही पूछा। समीप ही एक कूआ था। उस कूए के चबूतरे पर आकर पड़ गये। पड़ते ही निद्रा आ गयी। दिन भर जो देखा था उसके संस्कार मन में थे। स्वप्न में उन्होंने देखा उनका भी विवाह हो रहा है, बारात चढ़ गयी, विवाह हो गया। बहू आ गयी। वे बहू के पास सो रहे थे। बहू ने कहा तनिक आगे सरक जाओ। सोते ही सोते वे आगे सरके तो धड़ाम से कूए में गिर पड़े। सब लोग जाग ही रहे थे, धड़ाम का शब्द सुनकर लोग कूए के पास एकत्रित हो गये। कोई भीतर घुसा, जैसे-तैसे उन्हें बाहर निकाला लोगों ने पूछा—महात्माजी! क्या हुआ चोट लगने से महात्मा का सिर फट गया था सम्पूर्ण शरीर रक्त से सन गया था। जब कुछ चेत आया, तब फिर लोगों ने पूछा—"महात्माजी क्या हुआ ?"

महात्माजी ने दोनों कान पकड़कर कहा—भैया, हुआ क्या ? मैं केवल विवाह देखने को आया था। जब विवाह देखने मात्र से यह दुर्दशा है, तब जो विवाह करते होंगे उनकी न जानें क्या दुर्दशा होती होगी। मैं तो किसी तरह से आप लोगों की कृपा से कूए से बाहर निकल भी आया, किन्तु जो विवाह कर लेते होंगे, वे तो सदा के लिये दुःखालय रूप इस अन्धकूप में सदा के लिये गिर जाते होंगे।

यथार्थ में गृहस्थाश्रम चिन्ता का समुद्र ही है। आज नमक नहीं, आज आटा नहीं, आज तेल नहीं, लकड़ी नहीं। स्त्री पृथक् दुखी होकर कहती है—कसे से मेरा पाला पड़ गया है। काजर नहीं, बेंदी नहीं, तेल नहीं, अङ्गराग नहीं। मेरी साड़ी मैली हो

गयी है, लंहगा फट गया है, जूड़ा नहीं कङ्घी नहीं। जूता लाओ, चूड़ी लाओ, बस जब देखो तब लाओ ही लाओ। लड़की लड़के हो गये, तो बात-बात पर रोने लगते हैं. हम पर यह नहीं वह नहीं हम पढ़ने न जायंगे, घर से भाग जायंगे गोटी न खायंगे। एक विपत्ति हो तो गिनावें। गृहस्थी में नित नई विपत्ति। एक का कुछ प्रबन्ध किया, दश चिन्तायें और सिर पर चढ़ गयीं।

लड़की विवाह योग्य हो गयी है, उसको वर ढूंढ़ो। घर वर अच्छा हो। जाते हैं जहां घर अच्छा है वर अच्छा नहीं वर अच्छा है, घर अच्छा नहीं। दोनों अच्छे हैं तो दहेज बहुत माँगते हैं। लडका पढ़ता ही नहीं, पढ़ गया तो नौकरी नहीं मिलती, नौकरी मिल गयी तो विवाह की चिन्ता। लड़का कुछ और चाहता है, माता पिता कुछ और। बहू आते ही माता पिता से अलग हो जाती है।

घर का बैल बीमार है, घोडी बूढ़ी हो गयी है, कोई वाहन नहो, गाड़ो टूट गयी है, गगरी फूट गयी है, बहू रूठ गयी है। नौक-रानी धान कूट नहीं गयी है। कल से बकरी छूट गयो है। खेत की मक्ई लुट गयी है। एक बात हो, एक चिन्ता हो तो उसे गिनावो आज अमुक सम्बन्धी मर गया है, उसके क्रिया कर्म में जाओ। आज अमुक बच्चा बीमार है। युवा पुत्र मर गया है। पारसाल जिस कन्या का विवाह किया था वह विधवा हो गयी है। स्त्री को राजक्ष्मा हो गया है। बहू के पेट में फोड़ा है। घर में अन्न खाने को थोड़ा है। जिधर देखो, उधर चिन्ता जहाँ देखो वहाँ कष्ट, जिसमें हाथ डालो वहीं दुख। ऐसे दुःखमय संसार में सुख कहाँ, शान्ति कहां इसीलिये मनीषी लोग पुनर्जन्म नहीं चाहते इस संसार में बार-बार जन्मना मरना नही चाहते। यदि आप विषयों का सेवन करोगे तो न चाहने पर भी यह संसार ही पुनः पुनः प्राप्त

होगा, यदि आप भगवान् को चाहते हो तो भगवान् मिल जायँगे। जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा सर्वदा के लिये छुट जाओगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा कि आपके जो अनन्य भक्त हैं, उनका पुनर्जन्म होता है या नहीं।" इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! तुम्हें मैं पहिले कई बार बता चुका। अन्त में जिमकी जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है। तुम सोचो तो सही मैं नित्य शुद्ध मुक्त हूँ। ऐसे मुझ शुद्ध-बुद्ध मुक्त परम पुरुष को प्राप्त होकर फिर मेरे अनन्य भक्त महात्मा पुरुष इस दुःख रूप संसार में क्यों आवेंगे?"

अर्जुन ने पूछा—तब उनकी कौन-सी गति होगी?

भगवान् ने कहा—"उनकी जैसी भावना होगी, वैसा ही पद उन्हें प्राप्त होगा। वे इस अनित्य नाशवान् जगत में फिर जन्म न लेकर संसार चक्र से सदा के लिये विमुक्त बन जायँगे और मुझे ही प्राप्त हो जायँगे।"

अर्जुन ने पूछा—उन अनन्य भक्त महात्माओं को किस लोक की प्राप्ति होगी?

भगवान् ने कहा—पहिले तुम लोकों की ही बात समझ लो। *नीचे के सात लोक ऊपर के सात लोक तथा पृथ्वी के सात द्वीप* ६ वर्षों में से भारतवर्ष को छोड़कर सब भोगलोक हैं। इन लोकों में प्राणी कर्म नहीं करते भोगों को भोगने के लिये जाते हैं। कर्म करने की भूमि तो केवल भारतवर्ष ही है। साधारणतया ऊपर के लोक पुण्यलोक हैं, उनमें पुण्यात्मा पुरुष पुण्य भोगने जाते हैं। दक्षिण दिशा में नरकलोक हैं। पापी लोग वहाँ पापों का फल भोगने जाते हैं। जो गृहस्थ धर्मावलम्बी पुण्यात्मा पुरुष हैं, वे स्वर्गलोक तक ही जाते हैं। सकाम कर्मों का फल स्वर्गलोक तक ही है। जो निष्काम कर्मावलम्बी *ब्रह्मार्पण भाव से फल की इच्छा न रखकर*

कर्तव्य कर्म करने वाले भगवत्भक्त या ज्ञानी हैं। उनकी साधना अपूर्ण होने पर यदि वे महर्लोक, जनलोक, तपलोक या सत्यलोक में चले जाते हैं, तो फिर उनका पृथ्वी पर जन्म नहीं होता। उनकी साधना को ब्रह्माजी इन दिव्यलोकों में पूरी करते हुए कल्पान्त में उन्हें विमुक्त बना देते हैं।

कुछ ऐसे उत्कृष्ट कर्म हैं जैसे यज्ञ, दान, तपस्या जिन्हें सकाम भाव से भी करे तो स्वर्ग को अतिक्रमण करके ब्रह्मलोक तक पहुँचा सकते हैं। महाराज बाहु दान के प्रभाव से ब्रह्मलोक में पहुँच गये थे। किन्तु सकाम कर्मों के प्रभाव से भले ही ब्रह्मलोक तक ही क्यों न पहुँच जायँ उन लोकों के सुखों का उपभोग करके पुण्यक्षीण होने पर फिर भूलोक में जन्म लेना ही पड़ेगा। सकाम सत्कर्मों द्वारा प्राप्त ये ब्रह्मलोक पर्यन्त लोक पुनरावर्ती है। इन लोकों में जाकर भी फिर चाहें जितने दिन में सही, लौटना अवश्य पड़ेगा, किन्तु हे कुन्तीनन्दन! हे महाबाहु अर्जुन! जिसने मुझे प्राप्त कर लिया है उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म मरण के चक्कर से सदा के लिये विमुक्त बन जाता है।

अर्जुन ने पूछा—ब्रह्मलोक तो सर्वोत्कृष्ट लोक है, वहाँ जाकर प्राणी क्यों लौट आता है।

भगवान् ने कहा—चाहें ब्रह्माजी का ही लोक सही है तो वह काल से परिच्छिन्न ही। उसकी भी कुछ अवधि है। ब्रह्माजी की भी कुछ नियत आयु है। उनके भी दिवसों तथा रात्रियों की संख्या है। ब्रह्माजी के वर्ष दिव्य वर्ष कहलाते है। उनके दिनों से उनका वर्ष भी ३६० दिन रात्रि का होता है।

अर्जुन ने पूछा—ब्रह्माजी का दिन कितना बड़ा होता है तथा उनकी रात्रि कितनी बड़ी होती है?

सूतजी कहते है—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान्‌ने

जो ब्रह्माजी के दिनमान का काल बताया उसका वर्णन में आगे करूँगा।

छप्पय

ब्रह्मलोक परिभ्रन्त लोक पुनरावर्ती सब।
कछु जावैं करि ज्ञान कछुक अति करम करैं तब॥
ज्ञानी ब्रह्मा संग ब्रह्म में लीन होत हैं।
शुभ करमनि करि पाइँ फेरि तिनि जनम होत हैं॥
अरजुन! ये सब कालकृत, पुनरजनम छुटवत नहीं।
मोइ पाइ फिरि जगत में, मरत नहीं आवत नहीं॥

ब्रह्माजी की रात्रि तथा दिन का परिमाण

[६]

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १७, १८ श्लो०)

छप्पय

हमरो जो है बरष देवतनि दिन वह जानों।
ऐसे दिन तैं साठि तीन सौ बरसहु मानों॥
ऐसे बारह सहस बरष की चतुरयुगी है।
चतुरयुगी जो सहस रात उतनी हु कही है॥
ब्रह्मा जीवैं बरस शत, दिव्य आयु उनकी कही।
जो जानें जा मरम कूँ, काल तत्ववेत्ता वही॥

---

* एक सहस्र चौकड़ी वाला ब्रह्मा का एक दिन होता है, और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। जो इसे तत्व से जानते हैं वे ही वास्तव में दिनरात्रि को जानने वाले हैं ॥१७॥

अव्यक्त ब्रह्मा से सम्पूर्ण व्यक्ति उनके दिन होने पर उत्पन्न होवे हैं, उनकी रात्रि आने पर उन्हीं अव्यक्त संज्ञा वाले ब्रह्माजी में लय हो जाते हैं ॥१८॥

किसी को दिखायी न देने वाले भगवान् काल रूप मे क्रीड़ा कर रहे हैं। भगवान् ने जब अर्जुन को अपने विराट् रूप के दर्शन कराये, तब अर्जुन भयभीत होकर पूछने लगे—भगवन्! आप कौन हैं?

भगवान् ने कहा—मैं काल हूँ।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! यहाँ क्यों आये हैं?

भगवान् ने कहा—"मैं समस्त लोक का क्षय करने के लिये यहाँ आया हूँ।"

भगवान् के अनेक रूप हैं, उनमें उन विष्णु का एक काल रूप भी है। उन सर्वश्रेष्ठ भगवान् परब्रह्म का प्रभाव अत्यन्त ही अद्भुत है। जगत के जितने भी चर अचर पदार्थ हैं, इन पदार्थों में जो भाँति-भाँति की विचित्रता है, भाँति-भाँति के जो रूप दृष्टिगोचर होते हैं, इन नाना विचित्रताओं का जो हेतुभूत स्वरूप विशेष है उसी का नाम काल है। जब तक काल की सत्ता न हो, तब तक प्रकृति पुरुष कुछ कर ही नहीं सकते। ये दोनों काल भगवान् के ही रूप हैं। जब ये जगत रूप कर्म में प्रवृत्त होते हैं तब प्रकृति पुरुष काल रूप हो जाते हैं। जब सृष्टि से भिन्न अवस्था में होते है तो काल पृथक् से प्रतीत होते हैं। जितने प्रकार के कर्म हैं, इन कर्मों का मूल अदृष्ट भी काल ही है। काल बड़ा भयावह है। ब्रह्मादिदेव भी इससे सदा भयभीत रहते हैं। यह बड़ी कठोर प्रकृति वाला है, गिनने वालों में यह सर्वश्रेष्ठ गिनने वाला है। इसकी गणना में कभी भी किंचित् मात्र भी त्रुटि नहीं पड़ती। यह सर्वगत है, सबमें व्याप्त है; सबका आश्रय होकर सभी प्राणियों में अनुप्रविष्ट रहता है। यही सबका संहार भी करता है। यही ब्रह्मादि देवों का नियामक है जैसे किसान बैलों की नाक में रस्सी डालकर उन्हें अपनी इच्छानुसार घुमाता रहता है इसी

प्रकार ये कालरूप भगवान् ब्रह्मादि के समस्त देवों को अपनी इच्छानुसार घुमाते रहते हैं। इनकी आज्ञा का कोई उल्लङ्घन करने में समर्थ नहीं। ये सभी शासकों के सर्वश्रेष्ठ शासक हैं। ये ही यज्ञादि कर्मों के फल के दाता हैं। ये समदर्शी हैं, किसी से लगाव-लपेट नहीं। किसी के साथ पक्षपात नहीं। इनका न कोई शत्रु है न मित्र, न सगा है न सम्बन्धी। इनको दृष्टि में सभी समान हैं। इनमें एक बडी भारी विशेषता है, ये कभी सोते नहीं सदा सर्वदा जागते रहते हैं। सबका ठीक-ठीक हिसाब रखते है। ये सभी प्राणियों पर आक्रमण करते हैं। जो भी जन्मा है, उसी का ये संहार कर देते हैं, किसी का भी शील संकोच नहीं करते। हां जो संसारी विषय भोगों से सर्वदा विरक्त होकर निरन्तर भगवान् का ही चिन्तन करत रहते हैं, उन लोगों को इनसे कुछ भी भय नही होता। शेष सब प्राणी तो इन्हीं काल भगवान् के भय से भयभीत हुए अपने-अपने कार्यों में संलग्न बने रहते हैं। इनमें ही कल्प, युग, वर्ष, महीना, पक्ष, दिन तथा रात्रि आदि की कल्पना होती है। स्वय तो ये अनन्त हैं। इनका कभी अन्त नहीं होता फिर भी ये अन्तक कहलाते हैं। सबका अत ये ही काल भगवान् करते हैं। अंतक जो यमराज हैं उनका भी ये अंत कर देते हैं। एक ब्रह्मा के पश्चात् दूसरे ब्रह्मा को भी ये ही बदल देते हैं। जगत् के रचयिता भी ये ही हैं, ये ही जनक के द्वारा सुतों की उत्पत्ति कराते हैं। प्रकृति के जा २४ तत्त्व हैं, उन समस्त तत्त्वों का नियामककाल ही है। वास्तव में प्रकृति के इन गुणों में जो गति उत्पन्न होती है वह काल के ही द्वारा होती है। ये काल भगवान् प्राणियों के भीतर तो जीव रूप से रहते हैं और बाहर मृत्यु रूप से रहते हैं। सब कुछ खेलमाल इन काल देवता का ही है।

कुछ लोग इन्हीं काल भगवान् को परमाणु पीठर या पीलु भी कहते हैं। परमाणु उसका नाम है जिसके किसी भी प्रकार मे विभाग न हो सकें जैसे पृथ्वी आदि कार्य वर्ग हैं, उनका जो सूक्ष्म से सूक्ष्म सूक्ष्मतम अंश है और वह किसी भी कार्य रूप में प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका अन्य परमाणुओं से संयोग भी नहीं हुआ है, यही काल की सूक्ष्मावस्था है। वह जब स्थूलता का रूप धारण करता है, तब सृष्टि रचना में कारण होता है। वही परमाणु जब स्थूल रूप धारण करता है तो उसे स्थूल परमाणु कहलो। अब उसकी स्थूलता कैसे बढ़ती है इसी को बताते हैं।

दो परमाणु जब मिल जायँगे, तब उनकी "अणु" संज्ञा हो जायगी। अणु तथा परमाणु किसी भी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होते। तीन अणु मिलने पर "त्रसरेणु" कहलाता है। हाँ, यह त्रसरेणु दृष्टिगोचर होने लगता है। किसी छोटे से झरोखे से सूर्य की किरण आती है, उसके प्रकाश में जो बहुत छोटे-छोटे प्रकाश बिन्दु से छोटे-छोटे कण उड़ते से दीखते हैं वही त्रिसरेणु हैं। ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में सूर्य को जितना काल लगता है, उस काल का नाम त्रुटि है। वास्तव में काल की गणना 'त्रुटि' से ही आरम्भ होती है। सौ त्रुटियों का एक 'वेध' होता है। तीन वेध का एक 'लव' होता है और तीन लव का एक 'निमेष' कहलाता है। पलक भांजने में जितना समय लगता है, उसी का नाम निमेष है। तीन निमेष का एक 'क्षण' होता है। पांच क्षण की एक 'काष्ठा' होती है। पन्द्रह काष्ठा की एक 'लघु' होती है। १५ लघु की एक नाडिका (दण्ड) कहलाती है। दो नाड़िका का एक "मुहूर्त" कहलाता है। ६ या ७ नाड़िका का एक 'प्रहर' कहलाता है। इसे याम भी कहते हैं। चार प्रहर का दिन और चार

प्रहर की रात्रि अर्थात् एकदिन रात्रि में ८ प्रहर या ६४ घटिके होते हैं।

प्राचीन काल में समय को नापने के लिये यन्त्र नहीं थे। छाया से या जल से समय को नापते थे। जल से नापने की विधि यह थी, कि एक मिट्टी की नाद में पानी भर के रख देते थे। उसमें एक छोटा-सा छिद्र करके कटोरी डाल देते थे। जितनी देर में वह कटोरी जल में डूब जाय उस समय को एक नाड़िका मानते थे। उस कटोरी का और उसके छिद्र का भी एक प्रमाण होता था। जैसे वह कटोरी ६ पल तांबे की बनी हुई हो वह इतनी चौड़ी बनी हो जिसमें एक प्रस्थ (या पस) जल समा जाय। चार मासे को चार अंगुल लम्बी पैनी सलाका बनाकर उस पात्र के बीचोंबीच छिद्र कर दे। उस छिद्र युक्त पात्र को पानी से भरी नाद में डाल दो। उस छोटे से छिद्र से शनैः शनैः जल आ आ कर वह कटोरी भर जायगी, पानी में डूब जायगी। समझो एक दण्ड या नाडिका हो गयी। दो नाडिका का एक मुहूर्त होता है। आठ प्रहर का एक दिन रात्रि पन्द्रह दिन रात्रि का एक 'पक्ष'। दो पक्ष का एक 'मास' दो मास की एक 'ऋतु'। छै मास का एक 'अयन' जो दक्षिणायन और उत्तरायण दो होते हैं। दोनों अयन मिलकर एक मनुष्यों का एक 'वर्ष' कहलाता है। इस प्रकार १२ महीनों का मानववर्ष है। साधारणया मनुष्यों की परमायुकलि में १०० वर्ष की मानी गयी है। यह तो मनुष्यों की काल गणना हुई।

अब मानवलोक से ऊपर के जो लोक हैं उनकी काल गणना दूसरे प्रकार से है। मनुष्यों के जो ६-६ महीने के उत्तरायण और दक्षिणायन दो अयन हैं। वे पितरों के दिन रात्रि के समान है। अर्थात् हमारे ६ महीने और पितरों का एक दिन बराबर है।

हमारा एक वर्ष देवताओं के एक दिन के बराबर होता है। ऐसे देवताओं के दिनों से ३६० दिन का उनका एक वर्ष होता है। अर्थात् हमारे ३६० वर्ष देवताओं का एक वर्ष। देवताओं के वर्ष को दिव्य वर्ष कहते हैं। देवताओं के वर्षों से ४ हजार दिव्य वर्षों का सत्ययुग होता है। ३ सहस्र दिव्य वर्षों का त्रेता, दो सहस्र दिव्य वर्षो का द्वापर और एक सहस्र दिव्य वर्षों का कलियुग होता है। किन्तु एक युग के बीतने पर दूसरा युग तुरन्त ही नहीं आ जाता है उन दोनों के बीच के समय को सन्धि, सन्ध्यांश काल कहते है। मान लो कलियुग समाप्त हो गया तो सौ दिव्य वर्षों तक उसकी सन्धि का अंश और चलेगा तब सत्ययुग लगेगा। तब भी शुद्ध सत्ययुग न लगेगा। ४०० दिव्य वर्षों तक सन्धिकाल चलेगा। तब शुद्ध सत्ययुग आवेगा। जितने सहस्र वर्ष का जो युग होता है, उतने सौ वर्षों का उनका सन्धिकाल और उतने ही काल का सन्ध्यांश काल उसमें और जोड़ना पड़ता है। जैसे सत्ययुग ४ सहस्र दिव्य वर्षों का है तो ४ सौ दिव्य वर्ष सन्धि के और ४ सौ दिव्य वर्ष सन्ध्यांश के उसमें और जोड़ने पड़ेंगे। इस प्रकार सत्ययुग चार सहस्र ८ सौ दिव्य वर्षों का (हमारे वर्षों से १७२८००० वर्षों का) हुआ। त्रेतायुग सन्धि सन्ध्यांस जोड़कर ३६०० दिव्य वर्षो का (हमारे वर्षों से १२९६००० वर्षों का) हुआ। द्वापर युग २४०० दिव्य वर्षों का (हमारे वर्षों से ८६४००० वर्षों का) हुआ और कलियुग १२०० वर्षों का (हमारे वर्षों से ४३२००० वर्षों का) हुआ। चारों युग मिलाकर दिव्य वर्षों से १२ हजार वर्षों के हुए (हमारे वर्षों से चारों युग ४३२०००० वर्षों के हुए) इन चारों युगो को एक चौकड़ी कहते हैं। ऐसी चौकड़ियाँ जब एक सहस्र बार बीत जायँ तो वह ब्रह्माजी का एक दिन होता है। इतनी ही बड़ी उनकी

रात्रि होती है। दिन बीतने पर जब रात्रि आने का काल होता है, तो ब्रह्माजी इस त्रिलोकी के चराचर जीवों को अपने में समेटकर सो जाते हैं। जब दिन होने का समय होता है, तो जैसे व्यापारी अपने दुकान के भीतर रखे हुए सामान का प्रातः होते ही बाहर पसार देता है उसी प्रकार ब्रह्माजी भी इस त्रिलोकी के पसारे को फिर से पसार कर बैठ जाते हैं। रात्रि का समय होने पर फिर अपने में लीन करके सो जाते हैं। ऐसे दिन रात्रि जब ३६० बार व्यतीत हो जाते है, तो ब्रह्माजी का एक वर्ष होता है। ऐसे अपने वर्षों से एक ब्रह्मा १०० वर्ष तक रहते है। ब्रह्माजी के सौ वर्षों के पश्चात् महाप्रलय होती है। उनके कल्प अर्थात् दिन में तो भू, भुव और स्व ये तीन ही लोक नष्ट होते थे। महाप्रलय में ब्रह्म-लोक पर्यन्त सातों लोक नष्ट हो जाते हैं। इसके अनन्तर दूसरे ब्रह्मा आते हैं, वे फिर से नयी सृष्टि करते हैं। यह क्रम कब से चल रहा है, कब तक चलता रहेगा, इसे कोई कह नहीं सकता। अनादि काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा बस, इतना ही कहा जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने ब्रह्माजी के दिन का और उनकी रात्रि के समय के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चारों युग जब सहस्र बार बीत जाते हैं, तब ब्रह्माजी का एक दिन होता।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! ब्रह्माजी का दिन तो बहुत बड़ा होता है। उनकी रात्रि कितनी बड़ी होती होगी?

भगवान् ने कहा—"बड़ापन छोटापन अवस्थानुसार होता है। तुम्हें ब्रह्माजी का दिन बहुत बड़ा लगता है। ऐसे भी बहुत से जीव

हैं, जिनके मनुष्यों के एक दिन में सैकड़ों जन्म हो जाते हैं। सहस्रों बार मर जाते हैं, पैदा हो जाते हैं। उन्हें मनुष्यों का दिन बहुत बड़ा लगता होगा। ब्रह्माजी सबसे बड़े हैं इसलिये उनका दिन भी सबसे बड़ा है। जितना बड़ा उनका दिन होता है, उतनी बड़ी उनकी रात्रि भी होती है।"

अर्जुन ने कहा—महाराज ! बड़ा अद्‌भुत व्यापार है। ब्रह्माजी इतने दिनों में घबड़ा नहीं जाते होंगे। इतने समय सोते-सोते ऊब नहीं जाते होंगे ?

भगवान् ने कहा—यही तो मनुष्य की अल्पज्ञता है। वास्तव में गूलर का कीड़ा गूलर के भीतर के आकाश को ही विश्व ब्रह्माड माने बेठा है। कुए में रहने वाला मेढ़क कुए के जल को ही संसार भर का जल मानता है। यदि गूलर का कीड़ा, कुए का मेढ़क बाहर आकर देखे तो उसे उन्हें पता चलेगा, कितना भारी आकाश है, कितना विस्तृत समुद्र है। जो अपनी क्षुद्र परिधि में ही रहते हैं, उनकी दृष्टि संकुचित हो जाती है। वे विस्तृत विचार नहीं कर सकते। मनुष्यों ने ८ प्रहर चौंसठ घड़ी की क्षुद्र सीमा को ही दिन रात्रि मान लिया है, इसलिये वे वास्तविक दिन रात्रि का परिणाम जानने में असमर्थ हैं। जिन्होंने मेरी कृपा से अपनी दृष्टि को विस्तृत बना लिया है वस्तुतः वे लोग ही दिन तथा रात्रि के परिणाम को जानने वाले हैं।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! यह ब्रह्माजी के दिन रात्रि का क्रम कब तक चलता रहता है ?

भगवान् ने कहा—यह प्रश्न बार-बार मत करो। अव्यक्त प्रजापति जो ब्रह्मा हैं। उनका दिन होने पर ये सब चराचर जीव व्यक्त हो जाते हैं। उनके जागने पर सब प्रसुप्त जीव जाग जाते हैं पूर्व कर्मानुसार शरीर एवं विषय रूप जो समस्त भोग

भूमियाँ हैं वे प्रकट हो जाती हैं सब अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न व्यापारों में लग जाते हैं। जब उनकी रात्रि आ जाती है, ब्रह्माजी की सुषुप्ति रूपा निशा हो जाती है तो सबके सब उन्हीं अव्यक्त रूप प्रजापति में लीन हो जाते हैं। यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। निर्बाध रूप से सृष्टि का क्रम ऐसे ही चला आ रहा है, ऐसे ही चलना रहेगा।

अर्जुन ने पूछा—ये जीव क्या स्वेच्छा से जन्मते मरते हैं? जब ब्रह्माजी भी अपनी आयु के दिन पूरा करके चले जाते हैं, तो उस समय कोई बचना भी है क्या?

सूतजी कहते हैं—मुनियो। इसका उत्तर जो भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

दिन भरि करिकें काम राति में ब्रह्मा सोवैं।
सकल चराचर जगत लीन तिनि तन में होवैं॥
पुनि जब होवै दिवस तुरत ब्रह्मा जी जागैं।
ह्वै जावैं सब जीव काम अपने में लागैं॥
होहिँ व्यक्त अव्यक्त तैं, दिन में सब ह्वै जात हैं।
ब्रह्म-राति आवै जबहिँ, तब उनिमें सो जात हैं॥

सब नष्ट होने पर भी सनातन ब्रह्मलोक नष्ट नहीं होता

[१०]

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० १९, २० श्लोक)

छप्पय

एक नहीं ये सकल जीव ऐसे ही होवैं।
दिन में भोगें भोग राति में सुखतें सोवैं॥
सकल भूत समुदाय जगै फिरि पुनि-पुनि होवै।
दिन में करमनि करै राति में पुनि-पुनि सोवै॥
कबतैं यह चक्कर चल्यो, कब तक जानैं चलैगो।
मेरी जब होवै कृपा, तब यह चक्कर छुटैगो॥

---

* हे पार्थ! ये समस्त प्राणी अवश होकर दिन मे बार-बार उत्पन्न हो-होकर रात्रि आने पर ब्रह्माजी के शरीर मे लय हो जाते हैं, दिन आने पर फिर प्रकट हो जाते हैं॥१९॥

किन्तु उस अव्यक्त ब्रह्मा से भी परे एक अन्य जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह सब प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है॥२०॥

ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जितने व्यक्तित्व रखने वाले प्राणी हैं. वे सबके सब नश्वर हैं। मरणशील हैं। आद्यन्त वाले हैं। जब जीव प्राकृत पदार्थों में रमता है, तो वह उसी के सदृश हो जाता है। जो जिसका सेवन करता है, उसी के गुण वाला हो जाता है। सुरा पीने वाला सुरापी कहलाता है, मद्य में जो मादकता है वही मादकता मद्यपी में आ जाती है।

जब जीव प्राकृत पदार्थों का सेवन उपभोग करने लगता है, तो उनमें उसकी आसक्ति हो जाती है। यह आसक्ति ही बारम्बार जन्म और मरण कराती है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष ये पंच क्लेश कहलाते हैं, इन क्लेशों के ही कारण संसार में पुनः पुनः पैदा होना होता है जो पैदा हुआ है उसका नाश अवश्य होगा। जिसकी मृत्यु हुई है, उसका जन्म भी अवश्यम्भावी है। अतः माया, प्रकृति अथवा अविद्या के चक्कर में पड़ा प्राणी अवश होकर जन्मता मरता रहता है। यह बात नहीं है, कि ब्रह्माजी की रात्रि हो जाने पर--चराचर के प्रलय हो जाने पर-उसका नाश हो जाता हो। उसका नाश नही होता अदर्शन हो जाता है। जैसे थोड़े जल वाले तालाब मे मेढ़क रहते हैं। उस तालाब का जल वर्षात् के पश्चात् सूखने लगता है। फाल्गुन चैत्र में उसमें कीच ही कीच शेष रह जाती है। वैशाख ज्येष्ठ में कीच भो सूख जाती है। उसी कीच में मेढ़क भी सूख जाते हैं। देखने वाले समझते हैं मेढ़क मर गये। किन्तु जब आषाढ़ श्रावण में वर्षा होती है, तालाब में पानी भर जाता है सूखी कीच गीली हो जाती है, तो उसके भीतर दबे हुए मेढ़क फिर निकल-निकल कर टर्र-टर्र करने लगते हैं। कीच के सूखने पर वास्तव में वे मरे नहीं थे। कीच में वे सो गये थे। जल के अभाव में

प्रसुप्त से बनकर अदृश्य हो गये थे। जल रूपी जीवन को प्राप्त होकर पुनः पूर्ववत् कर्म करने लगे। कोई कुम्भकार है। दिन में मिट्टी लाकर उसने उसे भिगोया, उसके पिंड बनाये पिंडो को चाक पर चढ़ाया। १०-२० बर्तन बनाये भी तभी तक रात्रि हो गयी वह सम्पूर्ण सामग्री को बन्द करके सो गया। प्रातःकाल जागते ही जितनी मिट्टी चाक पर चढ़ी थी फिर उस अवशेष मिट्टी से पात्र बनाने लगता है। रात्रि के पश्चात् वह पुनः नई मिट्टी लेने नही जाता नये लौंदा नहीं बनाता। नया चाक नहीं लाता नया काटने वाला डोरा नही निर्माण करता। कल की छूटी समस्त सामग्री का ज्यों का त्योंही उपयोग करने लगता है। इसी प्रकार समस्त जीव जो-जो कार्य करते रहते हैं, ब्रह्मा जी की रात्रि आने पर अपने-अपने कार्यों को अधूरा छोड़कर-विवश होकर ब्रह्माजी के शरीर में लीन हो जाते हैं। जब दिन होने पर उठकर ब्रह्माजी जगत् प्रपञ्च कार्यों में लग जाते हैं, तो समस्त जीव अपने पूर्व कृत कर्मों के अनुसार, जहाँ से उन्होंने पहिले कल्प में कर्म छोड़ा था, वहीं से पुनः आरम्भ कर देते हैं। फिर संचित कर्मों में से प्रारब्ध कर्म लेकर जन्मते हैं, क्रियमाण कर्मों द्वारा संचित कर्मों की वृद्धि करते हैं, फिर प्रारब्ध को लेकर पैदा होते हैं, इस प्रकार संसार के भोगों को भोगते हुए भी सचित कर्मों की वृद्धि करते रहते हैं। तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी नाशवान् हैं, मरणशील हैं आद्यन्तवन्त है। बस, एक ही सनातनभाव ऐसा है जो समस्त जीवों के नाश होने पर भी उसका नाश नही होता। उसे, नित्य, सनातन, अज, अमर, परात्पर, परमात्मा, ब्रह्म तथा भगवान् आदि नामों से पुकारते हैं। वास्तव में वह नाम तथा रूप से रहित है। उसी की शरण में जाने से प्राणी जन्म मरण के चक्कर से छूट

सकता है। इसके अतिरिक्त इस संसार चक्र से छूटने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा—जीव अवश होकर क्यो घूमता रहता है। ब्रह्माजी की आयु पूर्ण होने पर महाप्रलय के अनन्तर कोई बचता भी है, तो इनका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! ये समस्त प्राणी-ये समस्त-भूतग्राम-विवश होकर प्रकट होते रहते हैं, नष्ट होते रहते है। रात्रि में दिखायी देता है, भूतों का ग्राम बसा है, उसमे भाँति-भाँति के प्रकाश दिखायी देते हैं। कुछ क्षण में वह भूतों का ग्राम लुप्त हो जाता है, कुछ भी दिखायी नहीं देता। फिर भूत क्रीड़ा करते, नृत्य करते दिखायी देते हैं। इसी प्रकार गन्धर्व नगर दिखायी देते हैं, फिर अदृश्य हो जाते हें। यह संसार भी गंधर्व नगर के सदृश ही है। जहाँ प्रजापति ब्रह्माजी की रात्रि हुई नहो, कि सबके सब जीव उनमें लीन हो जाते हैं। जहाँ उनका दिन हुआ कि फिर सबके सब उत्पन्न होकर विविध व्यापारों में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी का नाम संसार चक्र है। वैसे ब्रह्मा जी की रात्रि में जब प्रलयाग्नि की लपटें उठती हैं, तो उनसे भू, भुव और स्व ये तीन लोक ही नष्ट होते हैं। शेष लोक ज्यों के त्योंही बचे रह जाते हैं क्योंकि स्वर्ग के ऊपर के लोक अवि-नाशी लोक हैं। प्रलयकाल की अग्नि की लपटें स्वर्ग लोक तक को भस्म कर देती है। उसकी ऊष्मा लपटें महर्लोक तक पहुँच जातो हैं यद्यपि महर्लोक उन लपटों मे जलता नहीं, तथापि उसमें ऊष्मा व्याप्त हो जाती है उसकी ऊष्मा से घबराकर महर्लोक के निवासी लोग जनलोक में चले जाते हैं। ब्रह्माजी का दिन हो जाने पर वे जनलोक से उतरकर पुनः अपने महर्लोक में आ जाते हैं। जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक के जीवों पर इस

प्रलयाग्नि की लपटों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु जब एक ब्रह्मा अपनी आयु के १०० वर्ष पूरे कर लेते हैं, तब महाप्रलय होती है। उस महाप्रलय में तो ब्रह्मलोक पर्यन्त जलकर भस्मसात् हो जाते हैं। इसीलिये यह बात बार-बार कही है, कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं। ब्रह्मलोक जाकर भी जीव पुनः संसार में लौट सकते है, किन्तु एक ऐसा स्थान है जिसे प्राप्त करके प्राणी पुनः संसार में नहीं लौटता। फिर न उसका जन्म होता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! वह अपुनरावृत्ति वाला ऐसा कौन-सा स्थान है ?

भगवान् ने कहा—"वह मेरा धाम है।"

अर्जुन ने पूछा—"ब्रह्मलोक जब नष्ट हो जाता है, तब भी आपका धाम नष्ट नहीं होता क्या ?"

भगवान् ने कहा—देखो, ब्रह्मा को हिरण्य गर्भ या अव्यक्त कहते हैं। उनके जितने भाव हैं-उनकी जितनी कृतियाँ हैं-वे सभी नाशवान् हैं, चाहें जितनों दिनों में भी हो, एक न एक दिन उन सबका नाशवान अवश्य हो जायगा, किन्तु उस अव्यक्त से भिन्न भी एक दूसरा भाव है। उसे सनातन अव्यक्त भाव कहते हैं। वह सनातन अव्यक्त इन्द्रियादि का अविषय है, वह इन्द्रियगोचर नहीं। वही एक ऐसा सनातन भाव है कि चाहें संसार के समस्त भूत नष्ट हो जायँ, ब्रह्माजी भी बदल जायँ, ब्रह्मलोक पर्यन्त सब नष्ट हो जायँ, किन्तु उस अविनाशी भाव का कभी भी नाश नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! आप के उस परमधाम का स्वरूप क्या है कृपा करके उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष बतावें और आपका वह परमधाम कैसे प्राप्त हो सकता है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

ब्रह्मा को जो सूक्ष्म देह अव्यक्त कहावै ।
ग्वाई तैं जग होहि फेरि ग्वामें सो जावै ॥
जो अव्यक्त महान परे ताहू तैं जो है ।
वही सनातन भाव परम अव्यक्त कह्यो है ॥
सकल भूत नसि जायँ परि, नाश न होवै जासु को ।
परम दिव्य पर प्रकृति तैं, नाम अजन्मा तासु को ॥

परमधाम और उसकी प्राप्ति का उपाय

[११]

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥*
(श्री भग० गी० ८ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

क्षर होवै नहिँ तासु तबहिँ अक्षर कहलावै ।
होहि नहीं वह व्यक्त परम अव्यक्त कहावै ॥
परमागति तिहि कहें अन्तमें वह ही गति है ।
पावैं ताहि महान विमल जिनि अति ही मति है ॥
जाहि पाइ लौटत नहीं, जगतैं नहिँ कछु काम है ।
कहैं सनातन परागति, वही परम मम धाम है ॥

---

* जिसे अव्यक्त अक्षर ऐसा कहते हैं, उसी का नाम परमागति है। जिसे प्राप्त करके लौटते, नही, वही मेरा परमधाम है ॥२१॥

हे पार्थ ! वही परम पुरुष भक्ति से प्राप्त करने योग्य है, जिसके अन्तर्गत समस्त भूत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ॥२२॥

भगवान् सनातन हैं, उन भगवान् का धाम भी सनातन है और भगवान् एकमात्र अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। यही समस्त गीता का सार सिद्धान्त है। भगवान् ही काल स्वरूप हैं। यज्ञ भी उन्हीं का रूप है। वे भगवान् ही माया के के आश्रय से काल, देश, क्रिया, कर्ता, उपकरण, कर्म, मन्त्र, द्रव्य, और फल इन रूपों में परिणित हो जाते हैं। भगवान् के अतिरिक्त जो किसी अन्य को कर्ता मान लेते हैं, भगवान् के अतिरिक्त जो किसी अन्य फल की आकांक्षा कर लेते है, भगवत् धाम के अतिरिक्त जो अन्य किसी स्थान को अपना प्राप्तव्य स्थान मान लेते हैं, समझो वे भगवान् की माया के चक्कर में फंस गये हैं। एकमात्र सनातन परब्रह्म परमात्मा ही भजनीय हैं। एक मात्र भगवत्धाम ही प्राप्तव्य स्थान है और वे अखिलात्मा अनादि निघन अच्युत अनन्य भक्ति ही द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

बहुत से लोग कहते हैं, ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई साधन ही नहीं और सब साधन तो परम्परागत हैं। मुक्ति का साक्षात् साधन तो ज्ञान ही है। बात तो सत्य ही है। यह मायिक पदार्थ अज्ञानकृत है। ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का नाश हो हो सकता है। अज्ञानी की मुक्ति संभव ही नहीं। मोक्ष का साक्षात् साधन ज्ञान ही है। किन्तु ज्ञानी भी दो प्रकार के दृष्टि-गोचर होते हैं। एक सरसज्ञानी दूसरे नीरस ज्ञानी। लड्डू दो प्रकार के होते हैं, एक तो भुने सत्तुओं में तनिक-सी गुड़ की चासनी मिलाकर उनके लड्डू बांध दिये। दूसरे उन्हीं गेहुँओं की की सूजी बनाकर उसे घी में भूनकर बराबर का घी बूरा मेवा मिष्टान्न मिलाकर उसके लड्डू बना दिये। दूर से देखने में वे एक से ही प्रतीत होंगे। नाम भी दोनों का लड्डू ही है। आकृति भी दोनों की गोल-गोल ही है, किन्तु रस में-स्वाद में-अन्तर

है। फल में भी विशेष अन्तर नहीं। भूख लगने पर पेट भी दोनों से ही भर सकता है, किन्तु रसास्वादन में बहुत भारी भेद है। सूखे सत्तू के गुड़ की चासनी से घृत के बिना बने लड्डू सूखकर पत्थर हो जायँगे। उनके तोड़ने के लिये दो पत्थर खोजने पड़ेंगे। दाँतों से तोड़ोगे तो दाँत टूट जायँगे। निगलने में महान् कष्ट, बिना पानी की सहायता के निगले ही नहीं जा सकते। यदि खाने वाला बिना दाँत का बूढ़ा वेदान्ती हुआ, तब तो एक नई विपत्ति ही आ जायगी। वह तो उन पत्थर सदृश लड्डुओं को खा ही नहीं सकता उसे तोड़-तोड़कर चूर्ण बनाना पड़ेगा। उन्हें पानी में भिगोकर अवलेह के सदृश करना पड़ेगा तब कहीं खा नहीं सकेगा। चाट सकेगा। पेट तो भर ही जायगा।

अब दूसरे सूजी के बराबर घी बूरे से बने लड्डुओं की कथा सुन लीजिये। उनका नाम सुनते ही मुख में अपने आप पानी भर आयेगा, बाहर से पानी लाने की आवश्यकता नहीं। चाहे दाँतों वाला दान्ती भगत हो अथवा बिना दाँतों वाला वेदान्ता बूढ़ा हो। उन लड्डुओं के लिये दाँतों की आवश्यकता नहीं। पत्थर खोजने का प्रयोजन नहीं। फोड़ने में श्रम नहीं। वह तो कोमल ओठों से ही फूट जायगा। और फूटते ही अमृत का स्रोत मुख में भर देगा। उसमें जो स्वाद आता है, उसे सूखे सत्तू फाँकने वाले या मूली मिर्चा के साथ बल पूर्वक मुख में ठूँसने वाले क्या जानें।

इसलिये ज्ञान चाहे कितना भी निर्मल क्यों न हो, भले ही वह मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् साधन ही क्यों न हो यदि उस ज्ञान में भक्ति का सम्पुट नहीं दिया गया है। बराबर का घृत और बूरा नहीं मिलाया गया है, तो वह ज्ञान उतना अधिक शोभा

नहीं पाता। ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन अवश्य है, किन्तु सरस ज्ञान हो, भक्ति संयुक्त हो।

अब रही कर्म की बात। कुछ लोगों का कहना है, वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है। वेदों में कर्मकांड का ही विस्तार है, अत: कर्म से ही जनकादि राजर्षियों को सिद्धि प्राप्त हुई है, अत: मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन कर्म ही है।

हम इस बात को भी असत्य नहीं मानते कर्मों द्वारा ही संसिद्धि होती है, किन्तु कर्म भी दो प्रकार के हैं, एक सकाम दूसरे निष्काम। सकाम कर्म तो ऐसे हैं जैसे साधारण श्वान एक टुकड़े के लिये स्वामी के पीछे-पीछे पूँछ हिलाता हुआ दाँत निपोरता हुआ घूमता है। वह बार-बार लेटकर उदर दिखाकर याचना करता है। तब कहीं स्वामी की ओर से उसे एक टुकड़ा मिलता है। इसके विपरीत राजा के यहाँ एक मदोन्मत्त स्वच्छ शुभ्र रंग का गजराज है। हस्तिप उसके लिये ५-५ सेर के रोट बना कर लाता है, उसके सम्मुख रखता है. वह रोटों को देखकर मुख फेर लेता है। हस्तिप उसकी अनुनय विनय करता है, बार-म्बार उससे खाने की प्रार्थना करता है। तब कहीं जाकर बहुत चिरौरी करने पर वह अनिच्छा पूर्वक उस इतने भारी आहार को खाता है।

भोजन दोनों को ही मिला। किन्तु श्वान को माँगने पर, स्वामी के सम्मुख दीन होकर याचना करने पर परिमित मिला। गजराज को विना माँगे, बल पूर्वक आदर से देने पर अपरमित यथेष्ठ मिला। दोनों के स्वामी एक ही हैं। दोनों की बुभुक्षा भी एक सी है किन्तु सकामता और निष्कामता के कारण फल में विभिन्नता हो जाती है।

इसी प्रकार जो कर्म सकाम भाव से कितने भी विधि विधान

से ठाट बाट से किये जायँ, उनका फल सीमित ही क्षुद्र है। उनसे परम पुरुषार्थ की पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो कर्म निष्काम भाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से भगवत् सेवा भाव से किये गये हों वे कर्म मङ्गल स्वरूप, दुखों को दूर करने वाले भगवान् के धाम को पहुँचाने वाले होते हैं।

अब बहुत से लोग सकाम भाव से वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं, सकाम भाव से घोर तपस्या करते है, सकाम भाव से वेदों का अध्ययन करते हैं, सकाम भाव से यज्ञ यागादि करते हैं, तो ये कर्म तो निष्फल तो नहीं होते। कर्मों का फल तो अवश्य मिलेगा ही। उनसे संसार में यश होगा, संसारी वैभव बढ़ेगा। जब तक संसार में तुम्हारा नाम रहेगा, तब तक तुम्हें स्वर्ग में रहकर दिव्य भोग भोगने को मिलेगें। यही सकाम-वर्णाश्रम धर्म, तप, दान तथा यज्ञादि का फल है। किन्तु ये ही कर्म भगवत अर्पण बुद्धि से, निष्काम भाव से-प्रभु प्रसन्नार्थ बुद्धि से किये जायँ। भगवान् के गुणानुवादों का भक्ति भाव से श्रवण किया जाय, उनके नामों का, उनके अलौकिक दिव्य कर्मों का, उनकी दिव्य लीलाओं का श्रवण, गायन, कीर्तन, मनन तथा अनुकरण किया जाय तो ये कर्म भगवान् श्री वासुदेव के चरणारविन्दों में अविचल स्मृति प्रदान करते हैं वह भगवान् के पाद पद्मों की परम पावन स्मृति समस्त सांसारिक पाप तापों का विनाश कर देती है। यह भक्ति साधन भी है और साध्य है। भगवत् नाम, गुण, लीला श्रवण कीर्तन रूपा भक्ति के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि भी हो जाती है और भगवान् की जो परम साध्यारूपा भक्ति है वह भी प्राप्त हो जाती है। इसी भक्ति द्वारा पर वैराग्य से युक्त भगवान् के स्वरूप का ज्ञान तथा

विज्ञान की भी प्राप्ति होती है। अतः एक मात्र अनन्य भक्ति द्वारा ही परम पुरुष प्रभु की प्राप्ति हो सकती हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन ने जब अव्यक्त अक्षर के परब्रह्म के परम धाम की, उन्हें प्राप्त करने के उपाय की जिज्ञासा की तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी जो नष्ट नहीं होता वही सर्वोत्कृष्ट अव्यक्त, अक्षर मेरा स्वरूप है। श्रुति स्मृतियों में उसी को परमागति के नाम से बार-बार कहा गया है। इस परमा गति को प्राप्त कर लेना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। और समस्त स्थानों से तो जाकर लौटना पड़ता है, किन्तु इस परमागति को प्राप्त होकर फिर इस संसार चक्र में लौटना नहीं पड़ता।

अर्जुन ने कहा—"आपका परम धाम इससे कितनी दूर है ?"

भगवान् ने कहा—दूर का प्रश्न ही नहीं जिस गति को प्राप्त करके फिर लौटना नहीं पड़ता, वही तो मेरा परम धाम है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपके इस परमधाम को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?"

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! मेरा यह परमधाम एक मात्र अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति के अतिरिक्त मेरे धाम की प्राप्ति का सरल सरस सुगम सुन्दर अन्य कोई साधन ही नहीं।

अर्जुन ने पूछा—"फिर इस दृश्य प्रपञ्च का क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—फिर वही बात, अरे भाई अनन्य भक्ति का अर्थ ही यह कि मेरे अतिरिक्त तुम अन्य किसी के सम्बन्ध में सोचो ही नहीं। सबसे परम पुरुष तो मैं ही हूँ। मुझे प्राप्त कर लिया। मानों सब को प्राप्त कर लिया। ये समस्त भूत मुझ

परम पुरुष के भीतर भी विद्यमान हैं। और बाहर भी विद्यमान हैं। जितना भी यह दृश्य प्रपञ्च है। सब मुझ परम पुरुष द्वारा व्याप्त किया हुआ है। निखिल जागतिक प्रपञ्च मुझमें ही व्याप्त है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो आपकी सगुण रूप से उपासना करने वाले पुरुष आपके उस पुनरावर्ती परमधाम को किस मार्ग द्वारा जाते हैं। कृपया उस मार्ग के सम्बन्ध में मुझे बताने की कृपा करें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अन्तर गत जिहि रहें विश्व के प्रानी सबई।
रहे सदा चैतन्य चेतना आवै तबई॥
सकल जगत परिपूर्ण रहैं सत्ता जब जाकी।
जाकी सत्ता बिना कहाँ गति होवै काकी॥
यह हीं पारथ! पर पुरुष, एक मात्र जग जाप्य है।
सरल सुगम साधन सरस, भक्ति अनन्यहि प्राप्य है॥

देवयान मार्ग

[१२]

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुल्कः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥*

(श्री० भग० गी० ८ अ० २३,२४ श्लो०)

छप्पय

कौन काल में गये योगिजन लौटत नाहीं।
कौन काल में गये लौटि आवैं जग माहीं॥
शंका मन जब भई तबहिं बोले नँदनन्दन।
दुष्ट-निकंदन भक्तनि-चंदन मुनिमन-रंजन॥
कहूँ कौन लौटत नहीं, हे भरतरषभ! तोइ अब।
को आवै पुनि लौटि जग, काल बताऊँ अबहिँ सब॥

---

* हे भरतर्षभ ! किस काल मे परलोक गया योगी लौट कर आता है और किस काल में गया लौटकर नहीं आता, उन दोनों कालों को मैं कहता हूँ ॥२३॥

ज्योतिर्मय अग्नि, दिन, शुल्क पक्ष और उत्तरायण के छै महोने, इन सबके अभिमानी देवताओं के मार्ग मे मरकर गये ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं फिर लौटकर नहीं आते ॥२४॥

योग की साधना करने वालों की दो गति हैं। एक तो सद्यः मुक्ति दूसरी क्रम मुक्ति। इन दोनो के ही द्वारा परमधाम को प्राप्त पुरुष की पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् उन्हें पुनः लौटकर संसार चक्र में आना नही पड़ता। किन्तु जो सकाम कर्मो द्वारा पुण्यलोकों को प्राप्त होते है, उन्हें तो पुण्यक्षय हो जाने के अनंतर लौट कर इस संसार में पुनः आना ही पड़ता है।

योग साधना भी दो प्रकार की होती है, सबीज तथा निर्वीज सकार उपासना निराकार उपासना अथवा सगुण उपासना तथा निर्गुण उपासना। निर्गुण उपासना बहुत क्लेशकर है, क्योंकि देहवान् पुरुषों के शरीर, उनकी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण सभी तो व्यक्त को ही ग्रहण करने वाले हैं। अतः सगुण उपासना सरल है, सरस है सभी के उपयोगी है। भगवान् के अवतारों में से जो भी सगुण साकार स्वरूप अपने अनुकूल पड़े, उसी का ध्यान करना चाहिये।

ध्यान कैसे करना चाहिये इसका शास्त्रों में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। जो साधक सगुण ब्रह्म की, सविशेष ब्रह्म की उपासना करना चाहे, उसे भगवान् की किसी भी मनोनुकूल मूर्ति का आलम्बन ग्रहण करना चाहिये। ऐसे साधक को पहिले तो अपनी शक्ति के अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार स्वधर्म का पालन करना चाहिये। बहुत हाय हाय न करे, प्रारब्धानुसार जो भी कुछ सहजमात्र से प्राप्त हो जाय, उसी मे सन्तुष्ट रहकर साधन में प्रवृत्त हो जाय। यह साधना बिना श्रद्धाभक्ति के, बिना सत्संग के, बिना साधु-संत भगवत् भक्तों की सेवा के सिद्ध नहीं होती। अतः आत्मज्ञानियों के चरणों की शरण लेनी चाहिये, सदा सत्संग में ही समय बिताना चाहिये। छोटे पुरुषों का, इन्द्रियाराम मनुष्यों का, संसारी लोगों का कभी

भूलकर भी संग न करना चाहिये। धर्म का आचरण सदा करते रहना चाहिये, अधर्म कार्यों से सदा बचते रहना चाहिये। भोजन में बहुत ही सावधानी बरतनी चाहिये। भावदुष्ट दृष्टिदुष्ट, दुष्टाता से उपार्जित, दुर्जन पुरुषों का लाया हुआ अन्न न खाना चाहिये। परिमित थोड़ा सात्विक आहार करना चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर विश्वास आदि जो यम नियम हैं, उनका यथा शक्ति यथा सामर्थ्य पालन करते हुए आसनों का अभ्यास करना चाहिये। आसनों के अभ्यास के बिना स्थिरता नहीं आती है। फिर प्राणायाम का अभ्यास करे। प्राणायाम से जितने भी वात, पित्त, कफ जन्य दोष हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। जितना बढ़ा सके कुंभक को बढ़ाने का प्रयत्न करता रहे। श्वास प्रश्वास बाहर भीतर आना जाना बन्द हो जाय। भीतर की वायु भीतर ही लीन हो जाय। तब मन के सहित प्राणों को किसी एक देश में स्थिर करना चाहिये। चित्त जब सब ओर से हट जाय, तब अपनी मनोनुकूल मूर्ति का नख से लेकर शिखापर्यन्त ध्यान करना चाहिये। भगवान् के उसी सगुण साकार रूप का चिन्तन करते रहना चाहिये। इस पर भगवान् का चिंतन करते-करते शरीर में से आसक्ति सर्वथा छूट जाती है। पूर्वजन्मों के संस्कार के अधीन यह शरीर जब तक प्रारब्ध के भोग शेष हैं, तब तक बना रहना है। उच्चस्थिति में प्राप्त साधक की शरीर में तथा शरीर से सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब परिवार, घर द्वार आदि में अहंता ममता नहीं रहती। समय आने पर शरीर अपने आप छूट जाता है। ऐसे साधक का जीवात्मा क्रमशः अनेक लोकों को पार करता हुआ अन्त में भगवान् के परमधाम को प्राप्त होता है, जहाँ जाने पर फिर इस संसार में लौटना नहीं पड़ता। इस मार्ग का नाम

देवयान है, क्योंकि ऐसे पुरुषों को भिन्न-भिन्न कालाभिमानी देवता ले जाते हैं।

जैसे किसी यन्त्र को किसी पहाड के स्थान को ले जाना है, और वह यन्त्र समुद्र पार के देशों से लाया जाने वाला है, तो पहिले कुली लोग उसे जलयान पर चढा कर इस पार करा देंगे। फिर वायुयान द्वारा एक अन्य स्थान पर लाया जायगा। पुनः वाष्पयान द्वारा पर्वत की तलहटी तक लाया जायगा। फिर वहाँ से उसे खच्चर घोडों पर लादकर पहाड पर ले जाया जायगा, तदनन्तर कुली उसे उठाकर गन्तव्य स्थान की ओर ले जायँगे।

ऐसे ही पहिले राजाओं के पत्र भी जाते थे। बहुत वेग से चलने वाले ऊँटों पर लादकर वे पत्र एक स्थान पर पहुँचाये जाते थे, वहाँ घोड़े तैयार रहते थे, वे उन्हें अन्य स्थानों पर पहुँचाते। वहाँ-वेग से चलने वाले पुरुष चलकर उन्हें गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देते थे।

पहाड़ी यात्रा भी ऐसे ही होती थी। किसी देश की सीमा तक यात्रियो को घोड़े पहुँचाया करते थे। वे दूसरे राज्य की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकते थे। उस राज्य के बैल उन्हें दूसरे पडाव तक पहुँचाते थे। इसी प्रकार एक राज्य से दूसरे राज्य के और दूसरे राज्य से तीसरे राज्य तक के पड़ाव पर पहुँचते हुए कुछ काल मे यात्री अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचते थे।

यही क्रम देवयान और पितृयान द्वारा जाने वाले साधकों का है। पहिले देवयान का ही वर्णन किया जाता है। शरीर त्यागने पर उसे अग्नि और ज्योति के अभिमानी देवता जिन्हें अर्चि अभिमानी देवता भी कहा गया है, पहिले वे उसे आदर पूर्वक ले जाते हैं। जितने भी संसार में पद के अर्थ द्योतक पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों के भिन्न-भिन्न अभिमानी देवता होते हैं। इनका

शरीर दिव्य होता है। एक भवन बना तुरन्त उसका एक अभिमानी देवता बन जायगा। इसी प्रकार प्रकाश का अभिमानी देवता उसे ऊपर के लोकों में वहाँ तक ले जायगा, जहाँ तक उसके जाने की सीमा है। अपनी सीमा पर पहुँचने पर अर्चि अभिमानी देवता रुक जायगा, वहाँ दिवसाभिमानी देवता तयार बैठा होगा उसे वह अपनी परिधि तक पहुँचा देगा, वहाँ शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता प्रतीक्षाकर रहा होगा, दिवसाभिमानी देवता से वह लेकर उसे मासाभिमानी देवता की सीमा तक पहुँचा देगा। वहाँ से उत्तरायण मासाभिमानी देवता ले जाकर उसे वर्षाभिमानी देवता के समीप तक पहुँचा देंगे। संवत्सराभिमानी देवता उसे आदित्यलोकाभिमानी देवता तक पहुँचा देंगे, आदित्याभिमानी देवता उसे चन्द्रलोकाभिमानी देवता की सीमा तक पहुँचायेंगे। इसी प्रकार क्रम से विद्युत् लोकाभिमानी देवता के समीप पहुँच जायँगे। फिर क्रमशः देव, वरुण, इन्द्र, प्रजापति आदि लोकों के के देवता उसे ब्रह्मलोक तक ले जाते हैं। वहाँ से एक दिव्य अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मलोक ले जाता है। वहाँ से वे लोग अपने इष्टदेव के लोक में चले जाते हैं। इसी मार्ग का नाम देवयान है। इस मार्ग से जाने वाले फिर कभी इस लोक में लौटते नहीं।

जिन्होंने सकाम पुण्य कर्मों के शुभ अनुष्ठान किये हैं, वे पितृयान मार्ग से जाते हैं वे उनको भी क्रमशः धूमाभिमानी देवता, रात्रि अभिमानी देवता, कृष्णपक्ष अभिमानी देवता, दक्षिणायन अभिमानी देवता, पितृलोकाभिमानी देवता, आकाशाभिमानी देवता तथा चन्द्रमा अभिमानी देवता उन्हें चन्द्रलोक तक ले जाते हैं। वहाँ पर जिन लोगों ने यज्ञ याग, वापी कूप, तड़ाग, बगीचा, तथा विविध प्रकार के दान-पुण्य आदि सकाम कर्म किये हैं, उनके फलों को भोगते हैं। पुण्य क्षय होने पर वे लोग पुनः

संसार में लौट आते हैं। इस प्रकार देवयान और पितृयान ये दो मार्ग सनातन है। सकाम कर्म करने वाले तो पुण्य भोगों के अनन्तर पुनः संसार में जन्म लेते हैं और निष्काम भाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से लोक संग्रह के निमित्त प्रभु पूजा सम्बन्धी कर्म करने वाले कभी लौटते नहीं। पूर्ण ज्ञानी तो कहीं आते जाते ही नहीं। यहीं उनका आत्मा सर्वान्तर्यामी जगदाधार ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब अर्जुन ने देवयान मार्ग की जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! तुमने जो मुझसे देवयान और पितृयान मार्गों के सम्बन्ध म पूछा, उसका मैं तुमसे वर्णन करूंगा। देखो, काल तो एक है, आविच्छिन्न है। इसके तो टुकड़े होते नहीं फिर भी व्यवहार मे इसके तो घटी, पल, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेद हो जाते हैं। जैसे आकाश एक है, फिर भी व्यावहार में घटाकाश, मठाकाश, उदराकाश आदि अनक भेद हो जाते हैं। भेद होने पर उन-उन कालाभिमानी देवताओ की अपनी व्यावहारिक सीमायें भी होती है। हे भरत श्रेष्ठ! जिस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग मे जो योग साधना वाले साधक योगी जाते है, उनका वर्णन मैं तुमसे करूंगा। वे दो मार्ग हैं। एक से जाने वाले साधक तो, फिर संसार में लौटकर आते नहीं। और दूसरे पितृमार्ग वाले उस-उस कालाभिमानी देवता द्वारा ले जाये जाने पर फिर लौट कर संसार में जन्म लेते है। मै तुमसे दोनों ही मार्गों को बताता हूँ। उनमे से पहिले किसका वर्णन करूं?

अर्जुन ने कहा—प्रभो! पहिले अपुनरावृत्ति वाले देवयान मार्ग का ही वर्णन कीजिये।

भगवान् ने कहा—जो साधक सगुण साकार ब्रह्म की उपासना

करते हैं, वे क्रमशः अग्निज्योति–अभिमानी, दिवसाभिमानी, शुक्ल पक्षाभिमानी और उत्तरायण के छै महीनों के अभिमानी देवताओं के द्वारा ले जाये जाने पर क्रमशः ब्रह्मलोक में प्राप्त होते हैं। ये मैंने संक्षेप में कह दिये। इसके बीच में और भी बहुत से लोक पालों के लोक पड़ते है, उन सबको देखते हुए, उन सबका आनन्द लेते हुए वे अन्त में ब्रह्मलोक में पहुँच जाते है। वहाँ से फिर ब्रह्माजी उन्हें उनके योग्य स्थानों में पहुँचा देते हैं।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो देवयान का वर्णन हुआ। अब कृपा करके पुनरावृत्ति वाले पितृयान का भी वर्णन कीजिये।"

भगवान् ने कहा—पुनरावृत्ति वाले पितृयान से तुम्हें क्या प्रयोजन? उसके सम्बन्ध में तुम क्यों पूछ रहे हो?

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! दोनों ही पक्षों का ज्ञान कर लेना चाहिये, जिससे भूल न हो। उनमें से जो श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसी का अनुसरण करना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—अच्छी बात है, अब मैं तुमसे पितृयान मार्ग का भी वर्णन करता हूँ, उसे तुम सावधानी के साथ श्रवण करो।

छप्पय

जो नहिँ लौटत जगत प्रथम गति तिनहिँ बतावैं।
ज्योतिर्मय मग जायँ अगिनि के देव पठावैं॥
अभिमानी दिन–देव फेरि तिनिकूँ लै जावैं।
शुक्लपक्ष सुर फेरि उत्तरायन सुर आवैं॥
क्रम-क्रम तैं लै जात हैं, सुर अभिमानी सबनि के।
फिरि लौटत ये हैं नहीं, पद पावैं ते ब्रह्म के॥

पुनरावृत्ति पितृयान-मार्ग

[१३]

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्ति मन्ययावर्तते पुनः ॥*

(श्री भग गी० ८ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

जे पुनि आवैं लौटि तिनहु की गति बतलावैं ।
शुभ भोगनि कूँ भोगि लौटि कें जग में आवैं ॥
उन्हें प्रथम लै जायँ धूम अभिमानी सुरगन ।
कृष्णपक्ष के फेरि निशासुर अभिमानी जन ॥
सुरवर दक्षिण अयन के, चन्द्रज्योति लैजाँत हैं ।
शुभ करमनि फल भोगिकें, पुनि जग में आजाँत हैं ॥

---

* धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छै महीने, इनके अभिमानी देवताओ के मार्ग मे मरकर गये योगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर लौट आते हैं ॥२५॥

संसार मे शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग ये दो ही मार्ग सनातन माने गये हैं। एक के द्वारा गया हुआ लौटकर नही आता, दूसरे के द्वारा गया हुआ संसार मे पुनः लौटकर आता है ॥२६॥

योग मार्ग के रहस्य को जान लेने पर फिर साधक मोह में में नहीं पड़ता। यह जो संसार चक्र है अनादिकाल से चल रहा है, इसका कहीं आदि नहीं, अन्त नहीं। काल अनादि है, काल की कहीं परिसमाप्ति नहीं। काल की गतियां भी अनादि हैं, बन्ध और मोक्ष भी अनादि हैं। ज्ञान भी अनादि है और माया कहो अविद्या कहो प्रकृति यह भी अनादि ही है। जीव तो अनादि है ही, भेद भाव भी अनादि है और भ्रम भी अनादि है। ये सब पदार्थ तभी तक अनादि हैं जब तक एक अद्वय तत्त्व का पूर्ण बोध नहीं होता। पूर्ण बोध हो जाने पर सबका अनादित्व एक में ही विलीन हो जाता है। वास्तविक जो एक है, जिसकी सत्ता के सम्मुख दुसरी सत्ता टिक नहीं सकती। जिसके चतन्य के प्रभाव में जड़ता रह नहीं सकती, जिसके आनन्द के सम्मुख दूसरा आनन्द टिक नहीं सकता। उस अलौकिक अद्भुत वस्तु को पा लेने पर फिर अन्य किसी पदार्थ को पाने की आकांक्षा ही नहीं रहती। उसी के पाने के लिये शास्त्रों का आश्रय लेना पड़ता है, साधनों का सहारा लेना पड़ता है। विद्या अविद्या दोनों को ही जान लेना पड़ता है। दोनो के जाने बिना ज्ञान अधूरा ही रहता है। अतः प्रकाश का भी परिचय प्राप्त करो, अन्धकार के विषय में भी जानकारी करो। अग्नि को भी जान लो और धूम को भी पहिचान लो। दिन के सम्बन्ध मे भी समझ लो, रात्रि का भी परिचय प्राप्त करो। शुक्ल पक्ष को भी जान लो। कृष्ण पक्ष को भी समझ लो। उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों से ही परिचय प्राप्त कर लो। तभी तुम्हारा ज्ञान पूर्ण होगा, तभी तुम समग्रता के संबंध मे समझ सकोगे। अतः अपुनरावृत्ति वाले देवयान मार्ग के साथ पुनरावृत्ति वाले पितृयान को भी जान लेना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो। जब भगवान् ने अपुनरावृत्ति वाले देवयान का वर्णन कर दिया, तब अर्जुन ने पुनरावृत्ति वाले पितृयान की जिज्ञासा की इस पर भगवान् कहने लगे—अर्जुन! तुमने उचित ही प्रश्न किया योगी को दोनों ही मार्गों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये। दोनों का ज्ञान प्राप्त किये बिना ज्ञान अधूरा ही रहता है। जिन लोगों ने सकाम भाव से शास्त्र विहित शुभ कर्म किये हैं। उनको देह त्याग के अनन्तर सर्वप्रथम धूमाभिमानी देवता ले जाते है, जब उनकी सीमा समाप्त हो जाती है, तब रात्रि के अभिमानी देवता उन्हें पक्षाभिमानी देवताओं के समीप पहुँचा देते है। जैसे पितृयान मार्ग वालों को शुक्लपक्षाभिमानी देवता ले गये थे वैसे ही इन पितृयान मार्ग वालों को कृष्णपक्षाभिमानी देवता ले जाते हैं, तदनंतर उन्हें जैसे उत्तरायणाभिमानी देवता ले गये थे ऐसे ही इन्हें दक्षिणायनाभिमानी देवता ले जाते हैं। अब यहाँ से इनका मार्ग बदलता है।

अर्जुन ने पूछा—तो क्या भगवन्! जैसे देवयान मार्ग वालों को उत्तरायणाभिमानी देवता सम्वत्सराभिमानी देवताओं के समीप तक पहुँचाते हैं, वैसे ही इन पितृयान मार्ग वालों को दक्षिणायणाभिमानी देवता सवत्सराभिमानी देवताओं के समीप नहीं पहुँचाते?

भगवान् ने कहा—दोनों के अब तक तो दो दो अभिमानी देवता पृथक्-पृथक् थे जैसे अग्नि और धूम, दिन और रात्रि, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन। वर्षाभिमानी देवता एक ही हैं, अतः देवयान मार्ग के सदृश पितृयान वालों को संवत्सराभिमानी देवताओं के समीप न ले जाकर पितृलोक अभिमानी देवताओं के पास पहुँचाते हैं। पितृलोक में

आकाशलोक को आकाश लोकाभिमानी देवता उन्हें चन्द्रलोक में पहुँचा देते हैं। वहाँ जाकर ये अपने सुकृत कर्मों के भोगों को तब तक भोगते हैं, जब तक उनके शुभ कर्मों के पुण्य शेष नहीं हो जाते। जब पुण्य कर्मों के भोग शेष प्रायः हो जाते हैं, तो जिस मार्ग से ये गये हैं, उसी मार्ग से पुनः इस संसार में लौट आते हैं।

अर्जुन ने पूछा—वे लौटते कैसे हैं? भगवान् ने कहा—उनका कोई स्थूल शरीर तो होता नही उनका तो अत्यन्त सूक्ष्म कारण शरीर होता है। चन्द्रादि पुण्य लोकों मे वे आकाश में लौट आते हैं आकाश में जल रूप होकर वर्षा की विन्दुओं के साथ ओषधियों में आ जाते हैं। ओषधियों को प्राणी खाते हैं। उनसे वीर्य बनकर माता के गर्भ में आते हैं। गर्भ से पुनः जन्म लेते हैं। फिर यज्ञ, दान, तपादि सुकृत कर्म करके, पुनः सकामता के संकल्प से पुण्य लोकों में जाते हैं। इस प्रकार कर्म दानों के एक से होने पर भी सकामता और निष्कामता के कारण एक लौट आते हैं दूसरे नही लौटते।

अर्जुन ने पूछा—"इन दोनों मार्गों में से पहिले कौन मार्ग प्रकट हुआ?"

भगवान् ने हँसकर कहा—अरे, भाई! पहिले पीछे का प्रश्न मत करो। यह संसार अनादि है। दृश्यप्रपंच के सम्बन्ध में कोई भी नहीं कह सकता यह कब से हुआ। जब संसार अनादि है, तो देवयान मार्ग या शुक्ल मार्ग तथा पितृयान मार्ग या कृष्ण मार्ग इन दोनों मार्गों की गतियाँ भी अनादि ही हैं। इनमें से एक मार्ग से अर्थात् पितृयान मार्ग से जाने वालों की अपुनरावृत्ति होती है अर्थात् वे लौटकर फिर संसार में नहीं आते। दूसरे पितृयान मार्ग से जाने वाले लौट आते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इन दोनों मार्गों के परिचय का फल क्या होता है। इन दोनों मार्गों के ज्ञान का माहात्म्य बतावें।

सूतजी कहते हैं—मुनियों! इन दोनों के विज्ञान की स्तुति करते हुए इस विषय का भगवान् ने जैसे उपसंहार किया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

शुक्लपक्ष अरु कृष्णपक्ष गति न्यारी न्यारी।
पितृयान अरु देवयान मारग अति भारी॥
दोउ गति हैं शुद्ध सनातन सुख सरसावनि।
एक पाइ नहिँ लौटि एक तैं होवै आवनि॥
शुक्ल कृष्ण गति सनातन, भेद भावना में कह्यो।
ब्रह्मलीन है जात इक, एक फेरि जग में रह्यो॥

सर्वश्रेष्ठ योगमार्ग का फल

[१४]

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥*

(श्री भग० गी० ८ अ० २७, २८ श्लोक)

छप्पय

गति दोउनिकूँ जानि होहिं मोहित नहिं जोगी ।
कछु इच्छा जिनि रही भोगि शुभ लौटें भोगी ॥
जो जानत यह तत्त्व न मन में दुख सुख पावे ।
सबमें करि सम बुद्धि चित्त मोई में लावे ॥
अरजुन ! तुम सम बुद्धि करि, योगयुक्त ह्वै जग तरो ।
सर्व काल में सब समय, जोगी बनि साधन करो ॥

---

* हे पार्थ ! इन दोनो मार्गों को जानकर कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता, इसलिये तू सब काल में योगयुक्त होकर रह ॥२७॥

वेद पाठ से, यज्ञों से, तपस्याओं से, दानों से जो फल प्राप्त होते हैं, उन फलों को भी योगी इस रहस्य को तत्त्व से जानकर उल्लघन कर जाता है और सनातन परम स्थान को प्राप्त होता है ॥२८॥

सनातन मोक्ष प्राप्ति के दो ही मार्ग हैं। कर्ममार्ग और ज्ञान मार्ग। दोनों ही निःश्रेयस्कर हैं। दोनों से ही सिद्धि अर्थात् ससार से मुक्ति प्राप्त होती है। कर्ममार्ग ४ प्रकार का है। स्वर्ग प्राप्त करने की कामना से सकाम कर्ममार्ग, वर्णाश्रम विहित कर्ममार्ग और केवल अपने अन्तःकरण की विखरी वृत्तियों को योग द्वारा निरोध करना योग कर्ममार्ग तथा चौथा कर्ममार्ग यह है कि ब्रह्मार्पण बुद्धि से-निष्काम भाव से-इन कर्मों को करते हुए अपने ध्येय तक पहुँचना।

सकाम कर्मों में और वर्णाश्रम विहित कर्मों में तथा निष्काम कर्मों में-जिसका नाम भक्तिमार्ग भी है, इनमें वेद पाठ यज्ञ, तपस्या, तथा दान ये शुभ कर्म परमावश्यक हैं। जो स्वर्ग की कामना से शुभ कर्म करते है, उन्हें वेदाध्यन, यज्ञ, तप तथा दानादि शुभ कर्म करने आवश्यक हैं, क्योंकि इन पुण्य कर्मों से उन्हें स्वर्गादि पुण्य लोको की प्राप्ति होती है। सकाम होने से उनको फिर लौटना पड़ता है। इन्हीं वेद, यज्ञ, तप और दानादि कर्मों को स्वधर्म पालन बुद्धि से वर्णाश्रम धर्म पालन रूप कर्तव्य भावना से करने पर क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति होती है। इन्ही कर्मों को प्रभु पूजा समझकर भक्ति भाव से करते रहने पर प्रभु प्रसन्न होकर अपना परमधाम प्रदान करते हैं। किन्तु इन कर्मों के बिना किये भी केवल यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप कर्मों को करते हुए सनातन परम स्थान की प्राप्ति हो जाती है। ये चार तोकर्म के अन्तर्गत मार्ग है। इन चारों से हो मुक्ति होती है, किन्तु जो सकाम वेद, यज्ञ, तप और दान है वे लोग स्वर्ग प्राप्ति को मुक्ति ही मानते है भगवान् ने उसे मुक्ति नहीं माना है और उसकी निन्दा की है।

दूसरा ज्ञानमार्ग है, ज्ञानमार्ग में अव्यक्त, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म की उपासना की जाती है। उसमें कर्मों को ही बन्धन का कारण माना जाता है। इसलिये अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त कर्म करने पड़ें तो विवशता है, किन्तु बाह्य कर्म जब भी जितने भी शीघ्र छोड़े जा सकें उन्हें छोड़ना चाहिये। सर्व कर्म परित्याग से ज्ञान होगा और ज्ञान से मुक्ति। सर्व कर्म त्याग का ही नाम संन्यास है, इसलिये ज्ञानमार्ग को त्यागमार्ग या संन्यास मार्ग भी कहते हैं। ज्ञान मार्ग वाला संन्यास दूसरा है और वर्णाश्रम विहित सन्यास दूसरा है। ज्ञान मार्ग वाले सन्यास में कोई वर्ण का या आश्रम का नियम नहीं। जब भी त्याग भावना परिपक्व हो जाय, तभी सर्वस्व त्याग कर बिना किसी बाह्य चिन्हों के बिना किसी विधि निषेध के ज्ञान मार्ग का अवलम्बन कर ले। वर्णाश्रम धर्म वाले संन्यास के नियम हैं, उनमें विधि निषेध भी है। उस सन्यास को वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् पालन करने वाला केवल ब्राह्मण ही ले सकता है। इस संन्यास का अधिकार ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं है।

भगवान् का जो निष्काम कर्म योग है, उसका पालन सकाम कर्म वाले तो कर नहीं सकते। क्योंकि वे तो सभी कर्मों को कामना पूर्वक ही करते है, शेष कर्म मार्गी ज्ञानमार्गी दोनों ही समान भाव से कर सकते हैं। आप भले ही वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं, करते रहिये, जिस वर्ण में हों, जिस आश्रम में हों वहीं निष्काम भाव से सब कर्मों को प्रभु की पूजा समझ कर करते रहो आप संन्यासी ही हैं सभी वर्ण वाले सभी आश्रम वाले जहाँ हों, वहीं से परम पद को प्राप्त कर लोगे। आप ज्ञान मार्गावलम्बी हैं तो भक्ति पूर्वक सगुण ब्रह्म का श्रवण, मनन, निदिध्यासन कीजिये। जो गति अव्यक्त अक्षर, निर्विशेष,

निर्गुण वाले त्यागी को मिलेगी वही गति आपको भक्ति पूर्वक सगुण उपासना से मिल जायगी। अतः भगवान् का निष्काम कर्मयोग भक्ति मूलक कर्म मार्ग भी है और भक्ति मूलक ज्ञान मार्ग भी है और भक्ति मूलक योग मार्ग भी है। भगवान् ने जो देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग दो मार्गों का वर्णन किया यह सकाम कर्म परक तथा निष्काम कर्म परक साधकों के मार्ग हैं। योग मार्ग वाले साधक केवल योग साधन द्वारा इन दोनों मार्गों का फल बिना वेद, यज्ञ दान तपस्या के ही प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् भक्ति पूर्वक योग करने से विमुक्त बन जाते हैं। इसी विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् इस योग मार्ग की प्रशंसा कर रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पितृयान और देवयान दोनों मार्गों को जान लेने की तथा उनके फल की जिज्ञासा की तो भगवान् ने कहा—"अर्जुन! देखो, इन दोनों मार्गों के रहस्य को भलो-भाँति जान लेना चाहिये।"

अर्जुन ने कहा—जिस मार्ग को जाना ही नहीं, उसके कोश गिनने से क्या लाभ? हमें पितृयान मार्ग से जाना ही नहीं, तो उसे क्यों जानें?

भगवान् ने कहा—ऐसा नहीं। विद्या को जानने के लिये अविद्या का स्वरूप जान लेना भी आवश्यक है। यह करना चाहिये, इसे जानने के पूर्व यह जान लेना परमावश्यक है कि कौन-सा काम न करना चाहिये। विधि और निषेध दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है। इसीलिये जो इन देवयान पितृयान दोनों मार्गों को जान लेता है, वह योगी फिर मोह में नहीं पड़ता।

अर्जुन ने पूछा—योग क्या?

भगवान् ने कहा—"सदा सावधान रहे, कि मन संसारी विषयों में न जाय, मुझमें ही मन के लगे रहने को योग कहते हैं। इसलिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम्हारा श्रेय हो कल्याण हो, उस उपाय को बताये देता हूँ, तुम सदासर्वदा योग युक्त बने रहो। केवल योग साधना द्वारा ही तुम्हें बिना वाह्य कर्म किये कर्मों का फल मिल जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—सो कैसे प्रभो!

भगवान् ने कहा—वेद पढ़ने शिष्य जायगा तो, समितपाणि होकर, गुरु की, अग्नि की उपासना करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वेदाध्यन करेगा। यज्ञों में जितनी सामग्रियाँ आवश्यक हैं, उन्हें जुटा कर मन्त्र पूर्वक आहुति देने से यज्ञ सम्पन्न होगा, तपस्या में भाँति-भाँति के उपायों से शरीर को तपाना पड़ेगा। दान में अपनी कहलाने वाली विविध वस्तुओं में से अपनापन हटाकर उन्हें सुयोग्य पात्र को देना पड़ेगा। ये सब भी कर्तव्य कर्म समझकर, स्वधर्म पालन मानकर निष्काम भाव से करने पर परमधाम की-मुक्ति की-प्राप्ति होगी। किन्तु ध्यान निष्ठ योगी। इस योग के रहस्य को जानकर योगानुष्ठान करते हुए इन सब साधनों का अनुक्रमण कर जाता है। इन सब के फल का योग द्वारा ही सरलता से प्राप्त कर लता। वह सबके आद्य कारण ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है। इसलिये योग मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने अष्टम अध्याय में अक्षर ब्रह्म योग का वर्णन किया। अब नवमें अध्याय में जैसे राजविद्या राजगुह्ययोग का वर्णन करेंगे, उस विषय का मैं आगे वर्णन करूँगा।

छप्पय

जोगी जाकूँ जानि वेद पढ़िवे फल पावै।
यज्ञनि को फल पाइ कृतारथ सो ह्वै जावै॥
दान यज्ञ तप सकल पुण्यप्रद पुन्य करम हैं।
तिनि सब तैं बढ़ि जाय समुझि कें योग मरम हैं॥
जोगी तैं बढ़िकें नहीं, जग में कोई नर बृहद।
जोगी ई या जगत में, पाइ सनातन परम पद॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत् गीता उपनिषद् जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप में है उसमे "अक्षर ब्रह्म योग" नाम का आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

श्री पार्थसारथे नमः

गीता-वार्ता

नवमोऽध्यायः

(९)

राजविद्या राजगुह्ययोग

[१]

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

फेरि कहैं भगवान—पार्थ ! तेरी सुन्दर मति ।
ताईं तैं शुभ कह्यो ज्ञान यह गोपनीय अति ॥
निंदा तैं नित दूर, रहत दोषनि नहिं देखत ।
तुमहिं करत उपदेश होहि मेरो हिय हर्षित ॥
कहूँ ज्ञान-विज्ञान के, सहित गुह्य अति ज्ञान कूँ ।
मुक्त होहि संसार तैं, तजै तुरत अज्ञान कूँ ॥

---

* श्री भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! तुम अनिन्दक हो, इसलिये इस गुह्यतम ज्ञान को विज्ञान सहित तुम्हारे प्रति कहूँगा, जिसे जानकर तुम संसार से विमुक्त बन जाओगे ॥१॥

श्री मद्भागवत् गीता जी का नववाँ अध्याय अत्यन्त ही महत्व का है, क्योंकि यहाँ गीता प्रायः आधी होने को आई है, इसलिये पिछले वक्तव्य का उपसंहार करके आगे सिद्धान्त की बात कहेंगे। इस बात को बार-बार बताया जा चुका है, कि संसार में प्रभु प्राप्ति के दो ही मार्ग हैं, एक कर्म मार्ग दूसरा ज्ञान मार्ग। कर्म मार्ग के चार भेद हैं। सकाम कर्म मार्ग, निष्काम कर्म मार्ग, योग कर्म मार्ग, वर्णाश्रम धर्म कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग भी दो प्रकार का है केवल निर्गुण निराकार ब्रह्म के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करना तथा सगुण निर्गुण परिपूर्ण ब्रह्म ज्ञान के द्वारा भगवत् लोकों को प्राप्त करना। भगवान् कर्म मार्ग को भी स्वीकार करते हैं, और ज्ञान मार्ग को भी किन्तु एक बीच का विलक्षण मार्ग बताते हैं, जो पहिले था, बीच में लुप्त हो गया था, वह है भक्ति मार्ग। इसी को निष्काम कर्म मार्ग ब्रह्मार्पण मार्ग भी कहते हैं। निर्गुण निराकार ज्ञान मार्ग में तो कर्मों को ही बन्धन का कारण मानकर उनके सर्वात्म भाव से त्याग पर अत्यधिक बल दिया गया है और सकाम कर्म मार्ग में कर्मों के निरन्तर करते ही रहने का अत्यधिक आग्रह है। भगवान् ने मध्य मार्ग अपनाया है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं, कि कर्म बन्धन के कारण हैं, किन्तु कब ? जब वे फल की इच्छा से सकाम भाव से किये जायँ। कटहल को काटो उसका चेंप लगेगा तो खुजली होगी ही, किन्तु हाथ में तैलादि की चिकनायी लगाकर काटो तो खुजली न होगी। इसी प्रकार जो कर्म बन्धन

यह अव्यय ज्ञान धर्म युक्त और बहुत ही सुखकर है, यह राजगुह्य तथा राजविद्या है। प्रत्यक्ष फल देने वाला अत्यन्त ही पवित्र एवं उत्तम है ॥२॥

के कारण हैं, उन्हें ही बिना किसी संसारी फल की इच्छा के बिना-निष्काम भाव से-प्रभु प्रीत्यर्थ ब्रह्मार्पण बुद्धि से करो तो वे बन्धन के कारण न होकर मोक्ष देने वाले ही होंगे। इसी प्रकार सगुण निर्गुण, साकार निराकार दोनों ही भगवान् के रूपों को मान कर भक्ति भाव से सगुण साकार ब्रह्म में अपना तन मन धन सर्वस्व समर्पण करके उन्हीं में निरन्तर मन लगाये रहो, तो ऐसे भक्ति युक्त ज्ञान से भी वही गति प्राप्त हो जायगी। इसलिये भगवान् ने समस्त गीता मे दो ही बातों पर स्थान-स्थान पर बल दिया है। पहिली बात तो यह शास्त्र विहित कर्तव्य कर्मों को त्यागने का आग्रह मत करो। दूसरी बात कि तुम जो भी कुछ कर्म करो सबको मेरे अर्पण कर दो मेरी ही शरण में सर्वभाव से आ जाओ। सम्पूर्ण गीता में इन दो बातों को भाँति-भाँति से अनेक साधनों को बताते हुए अन्त में इन्हीं दो बातों को मिलाते हुए उनको परिसमाप्ति की है।

गीता को यज्ञ, दान, तप, जप आदि कर्म मान्य है, वह ब्रह्मार्पण धर्म का समर्थन करती है, अष्टांग योग को मानती है, किन्तु उसकी टेक है निष्काम कर्म और सर्व कर्म समर्पण शरणागति। जैसे गीत में एक तो टेक होती है शेष बहुत से अन्तरा कहलाते हैं। अन्तराओं में विविध विषयों का वर्णन होता है, किन्तु प्रत्येक अन्तरा के अन्त में टेक वही एक लगायी जाती है। पूरे पद में चाहें जितने अन्तरा हों। सब की टेक एक ही रहेगी। अतः यज्ञ हो, दान हो, धर्म हो, तप हो, जप हो, वर्णाश्रम धर्म हो, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा ध्यान समाधि कोई भी साधन क्यों न हो। भगवान् सब के अन्त में कह देते हैं, इन कर्मों को निष्काम भाव से करो

और मेरे अर्पण कर दो। यही भगवान् का कर्म और ज्ञान का विलक्षण समन्वय मार्ग है। यही ज्ञान और कर्म से अपूर्व तीसरा भक्ति मार्ग है। आदि से अन्त तक भगवान् के कथन का यही सार है।

भगवान के विषय विवेचन की एक विलक्षण परम्परा है। वे पहिले उस विषय को समझाते हैं, उसका विवेचन करते हैं, फिर अन्त में "इसलिये ऐसा करो" ऐसा विधि वाक्य देकर अपनी सम्मति जताते हैं। आज्ञा देते हैं। लोटलकार का प्रयोग करते हैं। अठारह अध्यायों में कम से कम १८ बार तो ऐसी आज्ञा भगवान् ने प्रदान की ही है। विषय विवेचन तो वे अन्य शास्त्रों के अनुसार ही करते है, किन्तु अन्त में अपनी सम्मति बताकर अपना मत प्रकट करते हुए अर्जुन को ऐसा करने की आज्ञा देते है। उन सब आज्ञाओं मे दो ही बातें रहेंगी शास्त्र-विहित निष्कामभाव से फल की इच्छा के बिना कर्म करो। और सब कुछ मुझे समर्पण करके मेरी शरण में आ जाओ। आइये पूरे गीता पर विहंगम दृष्टि डाल लें। तब आप हमारे कथन को यथार्थ के सम्बन्ध में समझ जायँगे।

पहिला अध्याय तो भूमिका मात्र है। वह तो पूरा का पूरा संजय का कहा हुआ है। श्रीकृष्ण और अर्जुन को-श्रोता और वक्ता को-सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। जिज्ञासु अर्जुन जो अब तक रथ में खड़ा होकर दोनों सेनाओं को देख रहा था। उसमें लड़ने वाले अपने सगे सम्बन्धियों और गुरुजनों को देखकर-उनका वध पाप कर्म समझकर--अपने कर्तव्य कर्म से-वर्ण धर्म पराङ्मुख होकर शोकसंविग्न चित्त से रथ में बैठ गया।

अब दूसरे अध्याय से श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद चलता है। भगवान् ने पूछा-क्यों नहीं लड़ते?

अर्जुन ने कहा—गुरुजनों को मारकर मैं पाप नहीं करूँगा भीख माँगकर खा लूँगा। राज्य की मुझे इच्छा नहीं।

भगवान् ने कहा—अरे, कौन किसे मारता है, आत्मा तो नित्य अविनाशी अप्रेय है। ये सब शरीर स्वतः ही नाशवान है इसीलिये मैं आज्ञा देता हूँ फल की इच्छा छोड़कर युद्ध करो।[१]

आदि का दूसरा अध्याय और अन्त का अठारहवाँ अध्याय यह गीता भर में दो सब से बड़े अध्याय हैं। इन्ही तत्व का विशेष विवेचन है। इन दोनों में कई बार तस्मात् कहा है। अर्थात् सिद्धान्त बताकर आज्ञा दी है ऐसा करो। फिर उसी बात को दुबारा दुहराते हुए कहते हैं—'शरीर तो मरणशील है ही। वह तो मरेगा ही। आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य है। इसीलिये कहता हूँ आत्मा के ऐसे स्वरूप को जान कर तुम शोक करना तुरन्त छोड़ दो।"[२]

फिर कहते हैं, कैसे भी समझ लो भैया तुम्हें सोच करने के लिये स्थान ही नहीं है। अर्जुन ने कहा—"मैं आत्मा को नित्य नहीं मानता। मैं तो इसे शरीर की ही भाँति मरने जीने वाला मानता हूँ। शरीर मर जायगा आत्मा भी मर जायगी। फिर मैं द्रोण भीष्म जैसे गुरु जनों का सोच क्यों न करूँ?" भगवान् ने कहा—अच्छा यही सही। जब पैदा होने वाले की मृत्यु निश्चित

---

१. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥
(श्री भग० गी० २ अ० १८ श्लोक)

२. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥
(श्री भग० गी० २ अ० २५ श्लो०)

है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है। इसलिये भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। शोक को छोड़ दो।[३]

जब अर्जुन ने कहा—महाराज, रट लगा रहे हो शोक छोड़ दे शोक छोड़ दे। कैसे शोक छोड़ दूं। मान लो मैं ही मर गया तो ?

भगवान् ने कहा तब तो तेरे दोनों हाथों में लड्डू हैं। जीत गया तो स्वधर्म पालन हो जायगा। क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए राज्य करोगे। युद्ध करते-करते मर गये तो स्वर्ग में वीरों की गति पाओगे इसलिये मैं कहता हूँ आज्ञा देता हूँ तुम युद्ध का निश्चय करलो। युद्ध के लिये बहादुर भैया उठकर खड़े हो जाओ।[४]

अर्जुन ने कहा—कैसे भी सही जनार्दन! किसी को मार देना पाप ही है। मुझसे पाप क्यों कराते हो ?

इस पर भगवान् कहते हैं—तुम समत्व बुद्धि रखकर सुख दुख, लाभ अलाभ, जय पराजय को एकसा मानकर कर्तव्य बुद्धि से लड़ाई करो पाप नही लगेगा। समत्व बुद्धि वाला पुण्य पाप दोनों का छोड़ देता है। इसलिये मैं तुमसे कहता हूँ, आज्ञा

---

३. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
(२-२७)

४. हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(२-३७)

देता हूँ उसी समत्व बुद्धियोग के लिये प्रयत्न करो। याद रखो "कर्मों को कुशलता पूर्वक करने का ही नाम योग है।"[५]

इस पर अर्जुन ने कहा– समत्व तो महाराज, योग है, मैं योग करूँगा। प्राणायाम करूँगा, किसी की हिंसा न करूँगा। कर्म छोड़ दूँगा, सूखे पत्ते खाकर निर्वाह कर लूंगा। क्यों मुझे हिंसा करने की युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हो ?

इस पर भगवान् ने अर्जुन को पुचकार कर ज्ञान और कर्म की दोनों निष्ठाओं का युक्तियुक्त वर्णन करने के अनन्तर फिर आज्ञा दी–तुम मेरी बात मान लो। फल की आसक्ति छोड़कर, कर्तव्य कर्मों का आचरण करो। आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाला मोक्ष प्राप्त कर सकता है, अतः कर्तव्य का कर्म करो।[६]

अर्जुन ने पूछा--ठीक है कर्तव्य कर्मों का निष्काम भाव से आचरण तो उत्तम है, किन्तु विना इच्छा के पाप कैसे हो जाता है।

भगवान् ने कहा—यह सब कामवासना से पाप होते हैं। जिसकी इन्द्रियाँ मन बुद्धि वश में है उससे पाप न होगा। इसलिये मैं आज्ञा देता हूँ तुम पहिले अपनी इन्द्रियों को वश में करो फिर युद्ध करके पापी काम को मार डालो।[७]

---

५. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२–५०)

६. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३–१९)

७. तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।

फिर भगवान् ने अपनी भगवत्ता बताकर यह कहा कि यह निष्काम कर्म योग नया नहीं है, काल पाकर नष्ट हो गया है निष्काम भाव से तुम काम करो तुमसे पहिले भी जनकादि राजर्षियों ने ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म किये हैं।[८]

देखो, ब्रह्म को ही सब कुछ समझकर ब्रह्मार्पण बुद्धि से यज्ञ करो, तप करो, योग करो, प्राणायाम साधो चाहे जो साधन करो। सब कुछ करके तुम उसे मुझ ब्रह्म को अर्पण कर दो। अज्ञान जन्य संशय को ज्ञान रूप खड्ग से काटकर निष्काम कर्म योग का आचरण करो इसलिये मैं आज्ञा देता हूँ उठकर खड़े हो जाओ कर्तव्य पालन करो।[९]

पंचम अध्याय में कर्म और ज्ञान का विवेचन बहुत ही शान्त भाव से किया है, इसलिये इसमें केवल सिद्धान्त बताया है। किसी बात पर बल देकर 'इसलिये ऐसा करो' ऐसी आज्ञा नहीं दी।

छटे अध्याय में फिर उसी निष्काम कर्मयोग पर बल दिया है। वेप बनाने वाले सन्यासियों की निन्दा की है। निष्काम

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
(३-४१)

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।
(३-४३)

८. कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥
(४-१५)

९. तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
(४-४२)

कर्म योगी को ही यथार्थ संन्यासी बताते हुए यहाँ बल देकर फिर कहा है, "इसलिये अर्जुन ! योगी बन जाओ।"[१०] पहिले कहा था, 'मामनुस्मर युद्धयच' मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। योग साधना भी काम क्रोधादि शत्रुओं के साथ युद्ध ही है। योगी भी युद्ध ही करता है।

सप्तम में भी ज्ञान विज्ञान का गम्भीरता से सिद्धान्त रूप में वर्णन है, अत: इसमें भी प्रत्यक्ष रूप से कोई आज्ञा सूचक वचन नहीं। अब आठवें में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और प्रयाणकाल में ज्ञातव्य विषय ये ७ प्रश्न अर्जुन ने किये हैं। इन सातों का ही उत्तर दिया है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा है—"देखो, तुम अपने मन को बुद्धि को मेरे अर्पण कर दोगे तो नि:संदेह तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे। इसलिये तुम दो ही काम करो सब समय मेरा ही स्मरण करते रहो और साथ ही कर्तव्य कर्मों से भागो नहीं। कर्मों को त्यागने का आग्रह भी मत करो। युद्ध भी करते रहो।" गीता में सबसे महत्त्व पूर्ण बल देकर अपना यथार्थ सिद्धान्त बताते हुए भगवान् ने यही सर्वोपरि आज्ञा अर्जुन को प्रत्यक्षरूप से दी है।[११]

इसी को फिर-फिर आगे दुहराया है "इसलिये हे अर्जुन ! सभी समय में तुम योगयुक्त ही बने रहो।"[१२]

---

१०. तस्माद्योगी भवार्जुन।
(६–४६)

११. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८–७)

१२. तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।
(८–२७)

इसके अनन्तर भगवान् ने राजविद्या राजगुह्य योग बताया। यहाँ राज विद्या और राजगुह्य से राजाओं की विद्या तथा राजाओं द्वारा भी जो छिपाने योग्य रहस्यमयी विद्या है, ऐसा अर्थ न करना चाहिये। यहाँ इनका अर्थ है जो सब विद्याओं की राजा है। समस्त गुप्त रखने वाली विद्याओं से भी गुप्त विद्या अर्थात् परम गुप्त विद्या यही अर्थ है यहाँ राज शब्द को पीछे होना चाहिये किन्तु यहाँ 'राजदन्त' की भाँति राज का पूर्व निपात है। अब बड़ी उत्सुकता होती है कि ऐसी रहस्यमय विद्या कौन सी है। भगवान् ने कहा 'अनित्यमसुखं लोक मिमं प्राप्यभजस्व मांम्'। देखो, यह शरीर तो क्षण भंगुर है, और दुःखों का घर है दुःख निलय है। ऐसे शरीर को जो अनित्य है इसके द्वारा मुझ नित्य को प्राप्त करलो। मेरा भजन करो। [१३] कितनी रहस्य की बात है।

तब अर्जुन ने पूछा – भजन कैसे करें?

इस पर भगवान् गरजकर आदेश देते हैं। अपने मन को मेरे मन में मिला दो, दूसरों के भक्त न बनकर मेरे भक्त बन जाओ। मुझी को नमस्कार करो अर्थात् सब प्रकार से मेरी ही शरण में आ जाओ। इससे होगा क्या? जब तुम्हारा चित्त सब प्रकार से मुझमें ही लग जायगा, तो तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे। बस यही राजगुह्ययोग है।

दशवें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का परिचय कराया है। अर्जुन की जिज्ञासा पर ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप

---

१३. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९-३४)

दर्शन कराया है। इन दोनों में प्रत्यक्ष कोई आज्ञा नहीं दी। बारहवां अध्याय गीता का प्राण है। दस-ग्यारह में अपनी महत्ता बताकर बारहवें में सार सिद्धान्त बताते हैं। इसलिये इस अध्याय का नाम ही भक्तियोग है। फिर भगवान् अपनी पुरानी टेक पर आ जाते हैं। अपने अन्तरा को नहीं भूलते फिर मन्मना भववाली बात को दुहराते हुए कहते हैं—"अर्जुन! अपने मन को मेरे में ही स्थिर करदो, अपनी बुद्धि को मेरे में ही मिला दो। इससे क्या होगा? कि फिर तुम्हें संसार में इधर-उधर-अन्य लोकों म-भटकना नही पड़ेगा। सदा सर्वदा मेरे में ही निवास करोगे। इस बात में रत्ती भर भी सन्देह नहीं।[१४]

तेरहवें अध्याय में भी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का प्रकृति पुरुष के सिद्धान्तों का ही विवेचन किया है, प्रत्यक्ष आज्ञा रूप में एक शब्द भी नहीं कहा। चौदहवें में भी तीनों गुणों का परिचय कराया है, सिद्धान्त कथन किया है; पन्द्रहवें में अपना पुरुषोत्तम योग बताया है, इसलिये इसमें भी प्रत्यक्ष आज्ञा नहीं दी। सोलहवें में भी दवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का सारगर्भ उपदेश ही है। सिद्धान्त की बात है, किन्तु अंत में जाकर तेरह, चौदह, पन्द्रह और सोलह इन चारों अध्यायों का सार सिद्धान्त बताकर अंत मे आज्ञा के रूप में कहा है—देखो, अर्जुन तुम्हारे साधन की कसौटी स्तुशास्त्र ही है। कौन-सा कर्म करना चाहिये कौन-सा कर्म नहीं करना चाहिये इसमें प्रमाण शास्त्र ही हैं—"इसलिये भैया, शास्त्र ही बता सकते है कौन कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है। कौन कर्म ग्राह्य

---

१४. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(१२-८)

है कौन अग्राह्य हैं। इसलिये शास्त्रीय विधान को जानकर तुम्हें कर्म करने चाहिये।"१५

सत्रहवें में भी भगवान् ने सिद्धान्त का ही विवेचन किया है श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप तथा दानादि के सात्विक राजस और तामस भेदों को बताया है इसलिये इसमें भी आज्ञापरक कोई वचन नहीं। अठारहवाँ अध्याय अन्तिम अध्याय है। इसी में अपने सिद्धान्त का उपसंहार किया है। इस बात को पुनः स्मरण कर लो। भगवान् के इस गीत के दो ही अन्तरा हैं दो ही टेक हैं, उसी का बार-बार उल्लेख करते हैं उसी पर पुनः पुनः बल देते हैं। एक तो यह कि तुम कर्म त्याग का आग्रह मत करो। दूसरे जो भी करो बिना फल की इच्छा के निष्काम भाव से मेरी प्रसन्नता के निमित्त करो और सबको मेरे अर्पण करदो। इसी की अठारहवें में कई बार आज्ञा दी है। पहिले भगवान् ने सबसे भ्रामक जो 'संन्यास' शब्द है उसका तत्वतः विवेचन किया है फिर अपना निश्चित सुदृढ़ सिद्धान्त बताया है, ये जो रँगे कपड़े पहिनकर शास्त्रीय कर्मों को छोड़कर, धर्म के प्रतीक शिखा सूत्र को त्यागकर भीख माँगते हुए इधर उधर फिरते हैं। पूर्ण ज्ञान न होने के कारण जो ज्ञानाभिमानी बने अग्नि होत्रादि से दूर रहते हैं, वे संन्यासी नहीं हैं। तब सन्यासी कौन हैं महाराज? अर्जुन ने जब पूछा तो भगवान् ने कहा—अनाश्रित होकर जो कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही संन्यासी है। केवल कर्मों को छोड़ने वाला, केवल अग्निहोत्र का परित्याग करने वाला

१५- तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६-२४)

ही संन्यासी नहीं। अर्जुन ने कहा—महाराज विहित कर्म करने पर आप बार-बार इतना बल क्यों देते हैं? भगवान् ने कहा—भाई, इसलिये बल देता हूँ, कि शरीर धारी पुरुषों द्वारा सर्वथा कर्मों का त्याग असंभव है। अतः कर्मों के त्याग का ही आग्रह न करना चाहिये वास्तव में बन्धन का कारण कर्म नहीं, कर्मों का फल चाहना यही बन्धन का हेतु है, अतः वास्तव में त्यागी यथार्थ संन्यासी वही कहा जाता है जो कर्मों के फलों का त्याग कर देता है। फिर भगवान् ने फल के प्रकार के हैं यह बताया। अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव के सम्बन्ध में बताकर ज्ञान, कर्म, कर्ता के सम्बन्ध में बताया। फिर बुद्धि आदि के विषय की वर्णाश्रम धर्म की चर्चा करते हुए अपने यथार्थ विषय भक्ति पर आ गये और कहा मुझे भक्ति के ही द्वारा समग्र रूप मे जाना जा सकता है। ऐसा बताकर अपना सारातिसार सिद्धान्त बताते हैं—"देखो, मेरा एकमात्र आश्रय ले लो, फिर कर्मों को करते रहो। चित्त से समस्त कर्मों को मुझमें अर्पण करदो। मेरे ही परायण हो जाओ। समत्व बुद्धिरूप योग का आश्रय लेकर सब समय निरन्तर मेरे में ही अपने चित्त को लगाने वाले बन जाओ। "मच्चित्तः सततंभव" प्रत्यक्ष आज्ञा है। फिर आगे डरा भी दिया है। देखो, सावधान रहना। यदि तुम मेरे में चित्त लगा कर काम करोगे तो मेरी कृपा से सम्पूर्ण दुःखों से पार हो जाओगे। यदि अहंकार के वशीभूत होकर मेरी बात नहीं सुनोगे, तो स्मरण रखो तुम्हारा विनाश हो जायगा। बार-बार जन्मते मरते रहोगे।[१६]

---

१६. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

आगे सार सिद्धान्त पर | आ गये। अठारह अध्यायों में जो कुछ कहा है उसका निचोड़ बताते हुए आज्ञा कर रहे हैं—अर्जुन! ईश्वर ही सबके हृदय में बैठकर सबको नचा रहा है। इसलिये भैया! मैं आज्ञा देता हूँ तुमसे दृढ़ता से कहता हूँ, उस ईश्वर की ही शरण में जाओ। आधेपद्धे नहीं सम्पूर्ण भाव से उनकी शरण में जाओ। मेरे प्यारे भैया! उन्हीं ईश्वर का आश्रय लो, उन्हीं की कृपा से तुम परमशान्ति को–नित्यपद को–प्राप्त कर लोगे।[१७]

बस, गाता का सार सिद्धान्त समाप्त हुआ। गीताकार को जो कुछ कहना था, इसी में उसने सब कुछ कह दिया। ईश्वर की शरण में जाओ, जो कुछ करो उन्हें अर्पण कर दो।" अब एक ही प्रश्न शेष रहा, वह ईश्वर कौन है, वह हमारे समर्पण को स्वीकार करेगा भी या नहीं।

इस पर भगवान् दृढ़ता के साथ कहते है—"अर्जुन तुम चिंता छोड़ दो, मेरे पर विश्वास करा मै दृढ़ता से कहता हूँ, वह ईश्वर मैं ही हूँ। तुम सभी धर्मों को छोड़कर–एकमात्र मेरी ही शरण में आ जाओ। तुम शरणागत हो जाओ, प्रपन्न बन जाओ मैं तुम्हें समस्त पापों से निश्चय ही मुक्त कर दूँगा। तुम तनिक भी

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(१८–५७–५८)

१७. तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८–६२)

शोच मत करो। निर्भय निश्चिन्त हो जाओ।"[१८] बस, गीता समाप्त हुई। यही गीता का राजविद्या और राजगुह्ययोग है। उसी का वर्णन नवमें अध्याय में होगा। नवमें अध्याय की भूमिका की भूमिका समाप्त हुई अब प्रकृति विषय पर आ जाइये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने अर्जुन को योग की शिक्षा दी और उसे सर्वश्रेष्ठ साधन बताया, तो इससे भी बढ़कर एक रहस्यमय साधन बताने को अपने ही आप कहने लगे—"अर्जुन! तुम मुझे बहुत प्यारे लगते हो। तुमको मै एक अत्यन्त रहस्यमय विद्या बताऊँगा। वह सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है। सभी विद्याओं की राजा है।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! आपकी कृपा है, मुझ अधम में में तो ऐसा कोई गुण है नहीं, जो आपके कृपा प्रसाद का भाजन बन सकूँ।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुममें एक ऐसा बढ़िया गुण है, जो साधारण जीवों में होता नहीं।"

अत्यन्त विनीत भाव से अर्जुन ने कहा—प्रभो! मुझे तो अपने में ऐसा कोई गुण दिखायी देता नहीं। आप सर्वज्ञ हैं, अब आप से मैं कैसे कहूँ।

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया! साधारण जीव का यह सहज धर्म है, वह अपने से बड़ा किसी को समझता नहीं। वह धन से प्रभाव से, तपादि से किसी से अत्यन्त प्रभावित होकर किसी की प्रशंसा भले ही कर दे, किन्तु साधारणतया जीव अपनी

---

१८. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गी० १८ अ० ६६)

तो प्रशंसा करना चाहेगा दूसरों की प्रशंसा नहीं करेगा। यहीं तक नहीं। दूसरों के गुणों में भी लोग दोष निकाला करते हैं। अकारण दूसरों की आलोचना किया करते हैं, जिससे कुछ लेना देना नहीं उसकी असूया निन्दा करते रहते हैं। जो दूसरों की निन्दा करने से सदा बचा रहता है, दूसरों के गुणों में दोष देखने का जिसका स्वभाव नहीं। वही पुरुष मोक्षमार्ग का अधिकारी हो सकता है। तुममें यह असूया-निन्दा न करने का गुण है। अतः दूसरों के गुणों में दोष दृष्टि न करने वाले तुमसे मैं इस गुह्य-ज्ञान को कहूँगा।

अर्जुन ने पूछा—कैसा ज्ञान कहेंगे, भगवन्!

भगवान् ने कहा—भैया! साधारण ज्ञान नहीं विज्ञान सहित यह गुह्यज्ञान तुमसे कहूँगा। इस ज्ञान से तुमको ब्रह्म का-मेरे स्वरूप का-साक्षात् अनुभव हो जायगा।

अर्जुन ने पूछा—इस ज्ञान से क्या हो जायगा प्रभो!

भगवान् ने कहा—सब कुछ हो जायगा। इसे जानकर तुम संसार सागर से पार हो जाओगे। समस्त दुःखों से अशुभों से विमुक्त बन जाओगे।

"क्या नाम है इस विज्ञान सहित ज्ञान का, भगवन्!" अर्जुन ने सहज भाव से प्रश्न किया।

भगवान् ने कहा—"इसका नाम है राजविद्या अर्थात् विद्याओं का राजा।"

अर्जुन ने पूछा—और भी कोई नाम हैं?

भगवान् ने कहा—हाँ इसी को राजगुह्य भी कहते हैं।

अर्जुन—"कैसा विज्ञान है यह स्वामिन्?"

भगवान् ने कहा—परम पवित्र ज्ञान है।

अर्जुन—और?

भगवान्—सर्वोत्तम ज्ञान है।

अर्जुन—और?

भगवान्—यह ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है, प्रमाण और फलरूप से प्रत्यक्ष ज्ञान है।

अर्जुन—और?

भगवान् ने कहा—सहस्र-सहस्र जन्मों में, जिन्होंने तप, यज्ञ दानादि पुण्य कर्म किये हैं, उन निष्कल्मष, क्षीण पाप पुरुषों के द्वारा ही जानने योग्य है। जन्मजन्मान्तर के संचित कर्मों का ही फलस्वरूप है। साधारण पुण्य वालों को यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान को तोआप श्लोशोधिकतर बता चुके हैं, क्या यह ज्ञान अत्यन्त कष्ट साध्य है?

भगवान् ने कहा—नहीं भैया! यह मेरा गुह्य ज्ञान सुख पूर्वक सरलता से किया जाने वाला है, अत्यन्त ही सुगम है।

अर्जुन ने कहा—सरलता से प्राप्त वस्तु कुछ हल्की होती है।

भगवान् ने कहा—इसके सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं। यह अत्यन्त सुगम होने के साथ ही अव्यय है, अविनाशी फल देने वाला है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह तो बड़ी अद्‌भुत वस्तु आप बतावेंगे। औषधि भी और स्वादिष्ट तथा मीठी भी। ऐसी सर्वश्रेष्ठ वस्तु को तो सभी ग्रहण कर सकते होंगे। तब तो सभी लोग इसे प्राप्त कर विमुक्त बन जायेंगे। यह संसार खाली ही हो जायगा।"

भगवान् ने कहा—अर्जुन ऐसी बात नहीं है। संसार खाली होने वाला नहीं है इसमें तो आवागमन लगा ही रहेगा। सभी इस गुह्यज्ञान के अधिकारी नहीं होते। जो अनधिकारी हैं, वे तो संसार में आते जाते ही रहेंगे। मरते रहेंगे जन्म लेते रहेंगे।

अर्जुन ने पूछा—इस गुह्यज्ञान के अनधिकारी कौन है प्रभो ?

सूतजी कहते है—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

गुह्यराज यह ज्ञान राजविद्या कहलावै।
अति ई पावन सुखद सकल अघमूल नसावै॥
जातैं उत्तम नहीं दूसरो ज्ञान सुपावन।
फल देवै प्रत्यक्ष सहज अति मुनि मन भावन॥
धरम युक्त साधन करै, अविनाशी अति सुगम है।
करैं करम विपरीत जे, तिनि कूँ अति ई अगम है॥

श्रद्धावान् ही अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त कर सकता है

[२]

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥*
(श्री भ० गी० ९ अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

जे श्रद्धायुत करें पाइँ प्रत्यच्छ धरम फल ।
श्रद्धा तैं नहिँ करैं करम सब तिनिके निष्फल ॥
श्रद्धा रहित न पाइँ पुरुष जो हैं अज्ञानी ।
श्रद्धा कारन मुख्य बतावें ऋषि मुनि ज्ञानी ॥
मृत्यु रूप संसार के, चक्कर में भ्रमिबो करें ।
जनम मरन कूँ प्राप्त है, मरें फेरि जनम्यो करें ॥

---

* हे परंतप ! अश्रद्धालु पुरुष इस गुह्यतम धर्म में श्रद्धा न करके मुझे बिना प्राप्त किये मृत्यु रूपी संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं ॥३॥

यह सम्पूर्ण जगत मुझ अव्यक्त मूर्ति वाले ब्रह्म से परिपूर्ण है तथा सम्पूर्ण प्राणी मेरे ही भीतर हैं, किन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ ॥४॥

यह प्राणी श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसे वैसा हो फल भी मिल जाता है। सभी जानते हैं, मूर्ति पत्थर की होती हैं, किन्तु श्रद्धालु भक्त उसी में भगवान् का साक्षात् करते हैं। नारी जाति सभी एक सी है, किन्तु जिसमें मातृभावना हो गयी है। मातृवत श्रद्धा हो गयी है, उसमें भोग बुद्धि की कल्पना ही नहीं होती है। एक ही वस्तु है, श्रद्धाभेद से उसके भिन्न-भिन्न रूपदि देते हैं, और श्रद्धा के अनुसार उनके फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

एक महात्मा थे, वे गंगा किनारे रहते थे। एक उनका शिष्य था, वह उनके उपदेश से नित्य ही गंगाजी के जल पर पैरों के द्वारा चलकर इधर आ जाता था। एक दूसरा भी शिष्य था, वह पार नहीं जा सकता था। एक बार दूसरे शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! मुझे भी ऐसा मन्त्र बता दें जिससे मैं भी गंगाजी के जल पर इस पार से उस पार चला जाया करूँ।"

गुरूजी ने एक मन्त्र लिखकर उसके हाथ में बाँध दिया और कह दिया—"अब तू निर्भय होकर जल के ऊपर चला जा।"

गुरूजी के वचनों पर विश्वास करके वह यथार्थ में पानी के ऊपर चला गया। जब वह उस पार पहुँचने ही वाला था, तब उसे जिज्ञासा हुई, देखें तो सही इसमें कौन-सा मन्त्र है।" यह विचार कर उसने हाथ में बँधा मन्त्र खोला। उसमें केवल "राम" लिखा था। उसने आश्चर्य के साथ कहा—"अरे, बस, इस छोटे-से ही मन्त्र में ऐसी शक्ति है। राम राम तो सभी कहते रहते हैं, वे लोग तो पार नहीं जा सकते।"

बस, इतना सोचना था, कि वह जल में डूब गया और मर गया। तभी तो कहा—

राम राम सब कोइ कहत, ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझत नहीं, नटवर नन्द किशोर॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने इस गुह्यज्ञान के अधिकारी के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् ने कहा—अर्जुन! तुम बड़े बलवान् हो। तुम अपने बाहरी कौरवादि शत्रुओं को तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर भीतरी शत्रुओं को भी दमन करने में समर्थ हो। मैं तुमसे रहस्य की बात कहता हूँ। मेरे इस गुह्यज्ञान को श्रद्धावान् पुरुष ही धारण करके संसार सागर से पार हो सकते हैं। श्रद्धालु साधक ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! यदि आप के इस आत्म ज्ञान रूप धर्म में जिन्हें श्रद्धा न हो, उनकी कौन गति होगी?

भगवान् ने कहा—ये अश्रद्धावान् पुरुष इस धर्म में श्रद्धा न रखने के कारण मुझे प्राप्त न करके भटकते रहते है?

अर्जुन ने पूछा—कहा भटकते रहते है भगवन्!

भगवान् ने कहा—मृत्यु रूप संसार मार्ग में भटकते रहते हैं। अर्थात् जन्म मरण की परम्परा में प्राप्त होकर उच्च तथा नीच योनियों में बार-बार जन्मते रहते हैं बार-बार मरते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—कैसा है वह आपका गुह्यज्ञान स्वामिन्?

भगवान् ने कहा—"मेरे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान जिससे हो जाय, वही यह गुह्यज्ञान है।"

अर्जुन ने पूछा—कैसा है आपका यथार्थ स्वरूप?

भगवान् ने कहा—"मैं अव्यक्त हूँ मुझ अव्यक्त रूप परमतत्त्व में यह सम्पूर्ण व्यक्त जगत व्याप्त है। ये समस्त प्राणी मेरे में स्थित हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"जैसे वृक्ष में बीज व्याप्त है और बीज में सम्पूर्ण वृक्ष व्याप्त है। इसी प्रकार जब सब भूत आप में स्थित है, तो आप भी उनमें स्थित होंगे।"

भगवान् ने कहा—"सो बात नहीं। सब भूत मेरे में अवस्थित अवश्य हैं, किन्तु मै उन सबसे सर्वथा पृथक् हूँ, जैसे गन्ध वायु में व्याप्त है, किन्तु वायु गन्ध से सर्वथा पृथक् है। जैसे वायु आकाश में व्याप्त है, किन्तु आकाश वायु से सर्वथा निर्लेप है। जैसे कमल की जड़ में नाल में फूल में, पत्तों में जल व्याप्त है, किन्तु जल कमल से सर्वथा पृथक् है। कमल का तो जल के बिना अस्तित्व ही नहीं रह सकता। किन्तु जल कमल के बिना भी ज्यों का त्यों ही बना रहेगा। कहीं कोई वस्तु सड़ रही है उसकी दुर्गंध फैल रही हैं, लोग कहते हैं, वायु बडी दुर्गन्ध युक्त है। वास्तव में वह दुर्गन्ध वायु में नहीं है। वायु चलता रहता है, फिर वायु से दुर्गन्ध प्रतीत नहीं होती। आगे सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं, लोग कहते हैं, कैसी सुगन्धित वायु है, किन्तु आगे चलकर वायु में सुगन्धि भी नहीं रहती। जैसे वायु दुगन्धि सुगन्ध से सदा अलिप्त है ऐसे ही मै अव्यक्त इस चराचर जगत् से सर्वदा निर्लिप्त हूँ। मुझमें सब स्थित होने पर भी मैं इनमें स्थित नहीं हूँ।"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! यह तो बड़ा चमत्कार है, आप में तो समस्त भूत अवस्थित हैं, किन्तु आप उनसे असंबद्ध कैसे रह सकते हैं?

भगवान् ने कहा—"यही तो मेरा ईश्वरीय प्रभाव है। यही तो मेरे योग का ऐश्वय है।"

अर्जुन ने कहा—कैसा है आपका योग ऐश्वर्य?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् जैसे अपना योग ऐश्वर्य को बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

पृथ्वी, जल, आकाश, वायु अरु तेज, देवगन।
इन्द्रिय तिनके विषय अहं चित और बुद्धि मन॥
दृश्य चराचर जगत प्राप्त यह मोमें सब है।
मूरति मम अव्यक्त व्यक्त जाते प्रकटित है॥
मेरे अन्तरगत सबहिँ, भूत व्यापि मों महँ रहत।
किन्तु वास्तविक बात यह, मैं उन सब में नहिँ रहत॥

भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं, वे नियमातीत हैं। संसारी व्यवहार, संसारी नियम बन्धन से परे हैं। विरुद्ध धर्माश्रयी उसे कहते हैं, जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हो। जैसे जल और अग्नि तथा अन्धकार और प्रकाश। जहाँ जल रहेगा वहाँ अग्नि न रहेगी, जहाँ प्रकाश है वहाँ अंधकार टिक ही नहीं सकता। किन्तु भगवान् में दो विरुद्ध धर्म वाले भी एक साथ रह सकते हैं। जैसे वे सबसे छोटे भी हैं, और सबसे बड़े भी हैं। वे सगुण भी हैं निर्गुण भी हैं वे साकार भी हैं निराकर भी है। इसलिये भगवान् के सम्बन्ध में कोई नियम लागू नहीं हो सकता। वे नियम, विधान, विधि, निषेध आदि सबसे परे हैं। भगवान् तो अनादि हैं ये नियम विधान तो पीछे बने है और नाशवान् होने से कालान्तर में नष्ट भी हो जायँगे, किन्तु भगवान् अनादि हैं, उनका आदि नहीं अन्त नहीं, उत्पत्ति नहीं निधन नहीं, जरा नहीं मृत्यु नही भय नही। वे तो परात्पर हैं। जो सबसे परे प्रकृति है, उस प्रकृति से तथा पुरुष से भी परे हैं। वे पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम कहना भी तो उपलक्षण मात्र है। जो किसी से उत्तम होता है, वह किसी से निकृष्ट भी होता होगा, किन्तु भगवान् तो उत्तम मध्यम, उच्च नीच तथा छोटे बड़े सबसे परे हैं। उन भगवान् के सम्बन्ध में आज तक कोई भी यह नहीं कह सका है, कि वे इतने ही है और ऐसे ही हैं। भगवान् के सम्बन्ध में जैसा लोग कहते हैं, वे वैसे हैं भी और नही भी है। प्राचीन लोग इस सम्बन्ध में एक कथा कहते हैं।

एक बार एक कमलनयन सम्मेलन हुआ। कमलनयन अंधों को कहते हैं। नाम तो रखा कमलनयन आँखें दोनों फूटी हुई। कमलनयन लोग बैठकर किसी बात पर चर्चा कर रहे थे। उसी समय किसी ने कहा हाथी आया है, हाथी खड़ा है।

उन कमल नयनों ने आज तक कभी हाथी देखा ही नहीं था। सभी जन्मान्ध थे। देखा किसी ने कुछ भी नहीं था, सभी हाथ से स्पर्श करके सबके सम्बन्ध में अनुमान से व्यवहार चलाते थे। सबने कहा—एक बार सभी जाकर अपनी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श करके अपना-अपना अनुभव बताओ कि हाथी कैसा है। यह सुनकर उनमें से एक कमलनयन गये, उन्होने हाथी के पैर का ऊपर से नीचे तक स्पर्श किया। उन्होंने निश्चय कर लिया हाथी खम्भा की भाँति है। अब दूसरे गये, उन्होंने हाथी के बड़े कान का ही स्पर्श किया। उसे चारों ओर से स्पर्श करके निश्चय कर लिया-हाथी सूप जैसा है। तीसरे गये उन्होंने हाथी की सूँड़ को ही स्पर्श किया। उन्होंने निश्चय किया-हाथी तुरही जैसा है। चौथे गये उन्होंने हाथी के बड़े-बड़े दाँतों का ही किया। उन्होंने कहा—हाथी बड़े खूँटा के समान है। पाँचवें गये और पीछे से जाकर पूँछ को स्पर्श किया उन्होंने निश्चय कर लिया-हाथी रस्सी के सदृश है। छटे गये तो हाथी वाले ने पूछा—कमलनयनजी! क्या चाहते हो?"

उन्होंने कहा—"हम हाथी देखना चाहते हैं।" यह सुनकर हाथी वाले ने एक सीढ़ी लगाकर उन्हें हाथी की पींठ पर चढ़ा दिया। पींठकर चढ़कर उन्होने चारों ओर हाथ फेर कर निश्चय किया कि हाथी भीत के समान है इस पर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार निश्चय करके वे फिर सब एक स्थान में एकत्रित हुए और अपना-अपना अनुभव सुनाने को कहा।

एक ने कहा—हाथी तो खम्मा के समान है। दूसरा बोला—तुम मूर्ख हो, हाथी खम्भे के समान नहीं है, वह सूप के समान है। तीसरे ने कहा—अरे भाई, क्यों झूठ बोलते हो। हाथी न खम्भे के समान न सूप के समान वह तो तुरही के समान है। चौथे ने

कहा—बकवाद मत करो मैं अच्छी तरह देखकर आया हूँ हाथी खूंटा के समान है। पांचवें ने कहा—तुम लोग तो गप्प मारते हो, मैं प्रत्यक्ष देखकर आया हूँ, हाथी रस्सी के समान है। इस पर छटे बोले—तुम सब झूठे हो। प्रतीत होता है, तुम लोग हाथी के स्थान पर अन्य-अन्य वस्तुओं पर हाथ फेर कर चले आये होगे। मुझे तो हाथी वाले ने स्वयं उसके ऊपर चढ़ाया था, वह तो एक बड़े भारी बिठौरा के समान। भारी भीत के समान होता है। अब वे लोग लगे आपस में लड़ने। नही हमने स्वयं देखा है, ऐसा नहीं ऐसा है।

उन सबकी बातों को एक यथार्थ आँखों वाला सुन रहा था। उसने कहा—अरे, भाई लड़ते क्यों हो? या तो आप सब ही सत्य बोल रहे हो, या सभी झूठ बोल रहे हो। वास्तव में आप जैसा कह रहे हैं वह एक देश में वैसा है भी और समग्र देश में उनसे भिन्न भी है। इस प्रकार भगवान् के सम्बन्ध में जितने अनुमान लगाये जाते हैं, वे एक देशीय होने से सत्य भी है और सार्वदेशिक अनुभव न होने से असत्य भी हैं। इसलिये भगवान् कभी कह देते हैं मैं इन सब भूतों में हूँ ये सब भूत मेरे में हैं। फिर कभी कह देते हैं मैं न तो इन भूतों में हूँ न ये भूत मुझमें ही हैं। इसलिये अस्ति भी वे ही हैं नास्ति भी वे ही हैं। यह सब उनकी अद्‌भुत, अचिन्त्य, अलौकिक, विलक्षण योगमाया योग ऐश्वर्य की ही विलक्षणता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् अपना योग ऐश्वर्य बताते हुए कहते हैं—अर्जुन! मैने जो पीछे कहा है, कि यह सम्पूर्ण जगत्, ये सम्पूर्ण भूत, ये सभी चराचर प्राणी मेरे में ही व्याप्त हैं, सब भूत मुझमें ही स्थित हैं, सो यह भी

बात नहीं है। वास्तविक बात तो यह है, कि ये भूत मेरे में स्थित नहीं हैं।

अर्जुन ने कहा—"महाराज, एक बार तो आप कहते हो 'मयाततमिदं सर्वम्' मुझमें ही यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, फिर कहते हो 'न च मत्स्थानि भूतानि' ये भूत मेरे में स्थित नहीं है। ये दोनों विरुद्ध बातें कैसे सम्भव हो सकती है ?"

भगवान् ने कहा—"इसलिये संभव हो सकती हैं, कि मैं विरुद्ध धर्माश्रयी हूँ। इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण हूँ। यही तो मेरा विचित्र योग है, यही तो मेरा अद्भुत ऐश्वर्य है। अर्जुन ! तुम मेरे इस अद्भुत योग प्रभाव को देखो। देखो, मैं उपादान कारण होने से सम्पूर्ण भूतों का भरणपोषण करता हूँ। सबका जनक होने से सबकी उत्पत्ति भी मैं ही करता हूँ। किन्तु वास्तविक बात यह है कि मेरो आत्मा उनसे सम्बद्ध नहीं है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! आप सबके जनक हो, सबका भरणपोषण करते हो। सब आपके आश्रय से अवस्थित हैं फिर भी आप इनसे असम्बद्ध कैसे रह सकते हैं ?"

भगवान् ने कहा—रह क्यों नहीं सकता। लोक में ही तुम देखो। ये जो महान् वायु है, वह सर्वगत है, चलनशील है, सदा सर्वदा चलती ही रहती है। यह रहती कहाँ है ?

अर्जुन ने कहा—वायु तो आकाश में व्याप्त रहती है।

भगवान् ने कहा—यथार्थ बात तुमने कही। अच्छा बताओ आकाश वायु से लिप्त है ?

अर्जुन ने कहा—आकाश तो सर्वथा निर्लिप्त है।

भगवान् ने कहा—इसी प्रकार सब भूत यद्यपि मुझमें मेरे आश्रय में रहते हैं किन्तु मै इनसे असम्बद्ध रहता हूँ, इन सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—कल्प के अन्त में जब सब भूतों की प्रलय हो जाती है तब ये सब रहते कहाँ हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसका वर्णन मै आगे करूँगा ।

छप्पय

वायु सदा आकाश माहिँ ही निवसत है नित ।
ताही तैं उत्पन्न वास करि विचरत है नित ॥
वायु रहै आकाश नहीं आकाश वायु महँ ।
मोतैं होवैं भूत रहैं नहिँ निवसूँ तिनि महँ ॥
वायु होहि आकाश तैं, आकाशहिँ इस्थिर रहत ।
ऐसे मोतैं भूत है, मोई में नितप्रति बसत ॥

भगवान् अपनी प्रकृति के आश्रय से जगत् रचना करते हैं

[४]

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥*
(श्री भग० गी० ९ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

मेरी जो है प्रकृति चराचर तातें होवें ।
होहिँ कल्प को अन्त सबहि मोई में सोवें ॥
कल्प अन्त में विश्व प्रकृति मम लीन कहावे ।
ज्यों को त्यों प्रारब्ध भोगवश पुनि बनि जावे ॥
जनम मरन को चक्र यह, चलत रहत संसार मैं ।
पुनि-पुनि जनमत पुनि मरत, सार नहीं हूँ सार मैं ॥

---

* हे कुन्तीनन्दन ! कल्प के अन्त में सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में उनको मैं पुनः उत्पन्न करता हूँ ॥७॥
अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर प्रकृति के वश से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को मैं पुनः पुनः रचता हूँ ॥८॥

कोई वस्तु नई नहीं, किसी नाम रूप का सर्वथा नाश नहीं। चीनी है, उसके अनेक प्रकार के खिलौने बना दिये। फिर उन सब भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले खिलौनों को भट्टी पर चढ़ा दिया। फिर उसके खिलौने बना दिये। नाम वही, रूप वही पदार्थ वही। पहिले खिलौनों का नवीनी करण हो गया। नवीनीकरण का ही नाम कल्प है। शरीर है, दिन भर कार्य करते-करते थक गया। रात्रि में सो गये। सोने से समस्त थकावट उतर गयी। नयी स्फूर्ति, नया बल नया उत्साह आ गया। एक प्रकार से कल की अपेक्षा आज नवीनता आ गयी।

शरीर है, समय पाकर वृद्ध हो गया, शरीर में झुर्रिया पड़ गयीं, बाल सफेद हो गये, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो गयी। आयुर्वेद के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से रसायन का सेवन किया। शरीर के भीतर एकत्रित मल निकल गया। पुरानी त्वचा गल कर नई त्वचा आ गयी। नाड़ियों में जो ग्रन्थियाँ मल के एकत्रित होने से पड़ गयीं थी। वे मल के निकल जाने से गांठें गल गयी। उन्हीं के कारण शरीर में झुर्रियाँ थी। वे मिट गयी। मल शुद्ध हो जाने से सफेद बाल और पुराने दाँत गिर गये, उनके स्थान में सुन्दर नये दाँत, काले बाल पैदा हो गये। इसी का नाम काया कल्प है, शरीर का नवीनी करण है।

तीर्थराज प्रयाग में कल्पवास माघ मकर के समय एक महीने तक किया जाता है। गंगा यमुना की परम पावन बालुका में कुटिया बनाकर महीने भर वहीं वास करते हैं। त्रिकाल स्नान करते हैं। जप, तप, पूजन, पाठ, दान, धर्म, हवनादि सत्कर्म करते है। मकर की संक्रान्ति बीत जाने पर यात्री अपने-अपने घर चले जाते वर्षात् में गंगा जमुना बढ़कर कल्पवास की भूमि को डुबो देतीं हैं। पुरानी बालू को बहा ले जाती हैं। नई बालू

वहाँ बिछा देती हैं। वही उस स्थान का कल्प हो गया, नवीनी करण हो गया। दूसरे वर्ष उस कल्प की हुई भूमि पर पुनः माघ का मेला लग जाता है। प्रति वर्ष कुटियों के स्थानों में कुछ थोड़ा बहुत हेर फेर हो जाता है। पहिले व्यवस्थापक का शिविर गंगा पट्टी में था, अबके यमुना पट्टी में लग गया। पहिले बाजार हनुमत् पथ की ओर था, अबके त्रिवेंणी पथ पर लग गया। तनिक से हेर फेर को छोड़कर मेला सदा उसी प्रकार लगता है। वही गंगा यमुना की बालू। इसी का नाम कल्पवास है।

ठीक यही बात इस जगत् के सम्बन्ध में भी है। ब्रह्माजी के एक दिन को कल्प कहते हैं। चारों युग जब एक सहस्र बार व्यतीत हो जाते हैं, तब ब्रह्माजी का एकदिन हो जाता है। तब ब्रह्माजी इस सम्पूर्ण चराचर त्रिलोक को अपने भीतर समेट कर उसी प्रकार सो जाते हैं, जैसे पर चूनिया अपनी दुकान का समस्त माल भीतर बन्द करके सो जाता है। उस समय कोई बन्द की हुई दुकान को देखता है, तो यही समझेगा। इस दुकान में कुछ भी नहीं है। किन्तु प्रातःकाल होते ही। दुकानदार अपनी दुकान के भीतर रखे हुए समस्त सामान को बाहर निकाल-निकालकर सजा देता है। उनको धूलि झाड़कर, उनको फिर से नया बना देता हैं। कल जो सामान विक गया था, कम हो गया था, उसे फिर लाकर पूरा कर देता है। नित्य ही वह दुकान लगाता है, रात्रि में सामान भीतर रखकर दुकान को बढ़ाकर सो जाता है, जब तक जीवित रहता है नित्य ही ऐसे दुकान लगाकर बैठता है। बूढ़ा होकर मर जाता है, तो उसका लड़का या कोई भी जो उसका स्थानापन्न होता है, वह उसी प्रकार दुकान लगाता है।

ऐसे ही ब्रह्माजी भी एक संसार रूपी दुकान के दुकानदार

उनकी रात्रि होती है, तब वे सब भूतों को अपने में समेट कर सो जाते हैं। प्रातः उठकर फिर सृष्टि को रच देते हैं।

अर्जुन ने पूछा—दूसरे दिन की सृष्टि में कुछ नवीनता होती होगी ?

भगवान् ने कहा—नवीनता आवे कहाँ से। वही जल है, वही अन्न है, वही दाल, भात, मसाला है। आज भोजन करके सो गये। कल फिर वही भोजन वही जल। नवीनता आवे कहाँ से। जैसे हम एक से ही पदार्थों को नित्य खाते हैं, वैसे ही ब्रह्मा जी यथापूर्व इस ससार की कल्पना कर देते हैं।

अर्जुन ने कहा—यह होता किसके द्वारा है ?

भगवान् ने कहा—मेरी प्रकृति के द्वारा होता है।

अर्जुन ने पूछा—"प्रकृति क्या ?"

भगवान् ने कहा—प्रकृति माने स्वभाव। मेरा स्वभाव ही कुछ न कुछ खटर पटर करते रहने का है। बच्चे जैसे मिट्टी के खिलौने बनाकर खेलते रहते हैं ऐसे ही मैं इन समस्त भूतों के साथ क्रीड़ा करता रहता हूँ।

अर्जुन ने पूछा—महाराज, आप बच्चे तो नहीं हैं ?

हँसकर भगवान् ने कहा—मैं बच्चा हूँ भी नहीं भी हूँ, न मैं बच्चा हूँ, न युवा हूँ, न बूढ़ा हूँ। तो भी मैं ही बच्चा बन जाता हूँ, मैं ही युवक बन जाता हूँ मैं ही हाथ में लाठी लेकर बूढे का अभिनय करता हूँ। कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—क्या वे सदा के लिये लीन हो जाते हैं ?

भगवान् ने कहा—अरे, भाई, सदा के लिये कौन लीन होता है, जहाँ ब्राह्मी निशा समाप्त हुई। दिन हुआ कि फिर मैं सबकी रचना कर देता हूँ।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! क्यों इस व्यर्थ के व्यापार को करते रहते हो ?

भगवान् ने कहा—तुमको बार-बार तो बता चुका, जिसका जैसा स्वभाव पड़ जाता है, फिर उसका छूटना कठिन पड़ जाता है। मैं स्वभाव के द्वारा अपनी ही प्रकृति को अङ्गीकार करके इस खेल को करता रहता हूँ। यह भूत समुदाय भी कर्मों के अधीन होकर परतन्त्र की भाँति बार-बार उत्पन्न होते रहते हैं बार-बार विलीन होते रहते हैं। मैं भी बार-बार प्रलय करता हूँ पुनः रचना कर देता हूँ। यह मेरा खेल निरन्तर चलता ही रहता है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! कर्म तो बन्धन के कारण होते हैं। आप इतने भारी प्रपञ्च को पैदा करते रहते हैं, नष्ट करते रहते हैं, तब तो कुछ न कुछ बन्धन तो आपको होता ही होगा ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जैसो जाको करम ताहि तस तन मिलि जावै।
भोग न आत्मा करै करम ही भोग करावै॥
स्वीकारूँ निज प्रकृति काज ग्वातें करवाऊँ।
विवश प्रकृतिवश जीव तिनहिँ जग माहिँ भ्रमाऊँ॥
वाहन मेरी प्रकृति है, ताही पर चढ़िकें फिरूँ।
भ्रमैं करमवश भूत तिनि, बार-बार रचना करूँ॥

भगवान् उदासीन भाव से कर्म करते हैं

[५]

न च मां तानि कर्माणि निबन्धन्ति धनजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ६, १० श्लोक)

छप्पय

तुमहुँ करम वश फिरहु प्रश्न यह तुमतैं स्वामी।
तुमकूँ बाँधें करम करौ बनि अन्तरजामी॥
अरे धनंजय! उन करमनि आसक्ति रहित हूँ।
उदासीन के सरिस सदा उनमें इस्थित हूँ॥
जीव बँध्यो उन करम तैं, मैं तो उनतैं बिलग हूँ।
रहूँ सदा निरलेप नित, नहिँ हौं तिनिमें बँधत हूँ॥

---

* हे धनञ्जय! उन कर्मों मे अनासक्त और उदासीनवत् स्थित रहने से मुझे वे कर्म बाँधते नही है॥६॥

हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षता मे यह प्रकृति इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस हेतु से यह संसार चक्र घूमता रहता है॥१०॥

बन्धन का कारण कर्म नहीं है। ग्रासक्ति ही बन्धन का कारण है। फल की इच्छा से ग्रासक्ति सहित किया हुग्रा कर्म ही बाँधता है। निष्कामभाव से उदासीन रहकर बिना ग्रासक्ति के जो कर्म किया जाता है, उससे किसी प्रकार का बन्धन संभव नहीं। कर्म न कोई बुरा है न ग्रच्छा कर्म जिस भाव से किया जायगा, उसी भाव से सुख दुख पुण्य पाप होगा। किसी का धन छीन लेना पाप कर्म है। डाकू लोग बल पूर्वक लोगों के यहाँ से धन छीन लाते हैं, इससे उन्हें पाप लगता है, नरकों में जाना पड़ता है। किन्तु ग्रर्जुन का नाम एक धनञ्जय भी है, वे धर्मराज के राजसूय यज्ञ के लिये सहस्रों राजाग्रों को जीतकर उनसे बलपूर्वक धन छीन लाये थे। वे डाकुग्रों की भाँति ग्रपनी सुख सुविधा के निमित्त धन छीनकर नहीं लाये थे, वे यज्ञ रूप महान् पुण्यप्रद कार्य के लिये बलपूर्वक धन छीनकर लाये थे, इसलिये उन्हें पाप न लगकर ग्रौर पुण्य ही लगा। उनकी निंदा न होकर सर्वत्र प्रशंसा ही हुई। धनञ्जय नाम उनके गौरव का द्योतक था।

एक महात्मा थे, उनके यहाँ एक शिष्य शिक्षा पाता था। शिष्य जब ग्रध्यात्म विद्या में पारगत हो गया, तब स्नातक होकर ग्रपने घर चला गया। विवाह करके गृहस्थी के कार्य करने लगा। दयालु गुरु ने एक दिन सोचा—चलो, गृहस्थी होने के ग्रनन्तर ग्रपने शिष्य की परीक्षा तो करें, उसे मेरा सिखाया ज्ञान स्मरण है या भूल गया। यह सोचकर वे वेष बदलकर भोजन के समय शिष्य के द्वार पर पहुँचे। गृहस्थाश्रम को स्वीकार करने का एकमात्र प्रयोजन इतना ही है, कि इसके द्वारा देवता, पितर तथा ग्रतिथियों का सत्कार हो सके। प्राचीन प्रथा थी, कि भोजन बन जाने पर गृहस्वामी द्वार पर खड़ा होकर मुहूर्त ग्रतिथि की प्रतीक्षा करता। उस समय जो भी कोई भोजन की इच्छा से यात्रा करते

हुए अतिथि आ जाता उसकी भगवत् बुद्धि से पूजा करता, और जो भी कुछ पाक बना रहता, उससे उसे भोजन कराता। जिस दिन कोई योग्य ज्ञानवृद्ध अतिथि आ जाता उस दिन गृहस्वामी अपना परम सौभाग्य समझता।

उन ब्राह्मण ने भी देखा आज भोजन के समय मेरे द्वार पर एक वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध महर्षि आ गये हैं, उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवत् बुद्धि से उनका पूजन किया और तृप्ति पूर्वक उन्हें भोजन कराया।

भोजन के अनन्तर उनके लिये सुखकर शैया बिछा दी। वृद्ध ब्राह्मण उस पर लेट गये। गृहस्वामी शनैः शनैः उनके पैर दबाने लगे। पैर दबाते-दबाते गृहस्वामी ने पूछा—भगवन्! भोजन तो स्वादिष्ट था न, उसे खाकर आपकी तृप्ति तो हो गयी?

महर्षि ने कहा—कैसा भोजन?

गृहस्वामी ने कहा—यही दाल भात रोटी।

महर्षि ने कहा—फिर इन्हें खाया किसने।

गृहस्वामी ने कहा—आपने ही तो खाया था।

महर्षि ने कहा—मैंने तो खाया ही नहीं, जब मैंने खाया ही नहीं तो, तृप्ति का प्रश्न व्यर्थ है।

गृहस्वामी ने कहा—महाराज अभी-अभी तो आपने खाया है, खाकर आपने डकार भी ली। आप पहिले भूखे थे, खाकर तृप्ति का अनुभव किया।

महर्षि ने कहा—तुम बार-बार कह रहे हो तुमने ऐसा किया, तुमने खाया। यह 'तुम' क्या? किसको खाया? किसने खाया?

इस शरीर में जड़ और चैतन्य दो पदार्थ हैं। शरीर तो जड़ है। अन्न जड़ है, पृथ्वी का विकार है, देह जड़ है, यह भी पृथ्वी का विकार है। जितना भी यह चराचर भूत है, सब पृथ्वी से पैदा

हुआ है। जिनको तुम दाल, भात, रोटी कहते हो, वे सब पृथ्वी से उत्पन्न हुए है, पृथ्वी में ही अन्त में मिल जायँगे। शरीर भी पार्थिव है। पार्थिव शरीर में एक जठराग्नि है, प्राण है, प्राणों को खाने-पीने की आवश्यकता होती है, पार्थिव पदार्थों को ही उदर में डाल लेते हैं। जैसे कोई मिट्टी का बना घर है, उसे दूसरी गंगाजी की चिकनी मिट्टी ही लाकर लहेसते हैं, मिट्टी और गोबर से लीप देते हैं, तो क्या वह मिट्टी गृहस्वामी को लग जाती है। घर का चैतन्य स्वामी तो घर से सर्वथा पृथक् है। घर के टूटने पर भी गृहस्वामी तो टूटता नहीं। घर के नष्ट होने पर भी गृहस्वामी तो बना ही रहता है। इसी प्रकार इस देहरूप गृह के स्वामी चैतन्य आत्मा का अन्न पान से क्या सम्बन्ध ? आत्म तो खाता पीता नहीं। वह अतृप्त भी नहीं। वह स्वतः तृप्त है। उसकी दाल भात रोटी से तृप्ति क्या होगी ? उसकी देह में आसक्ति नहीं। दोनों का भिन्न भिन्न स्वभाव है। देह जड़ है, आत्मा चैतन्य है। देह नाशवान् है, आत्मा अविनाशी है। देह का जन्म होता है मरण होता है, आत्मा जन्म मरण से सर्वदा रहित है। फिर किसने खाया और किसने खिलाया। कौन पहिले अतृप्त था और अब कौन तृप्त हो गया ?

गृहस्वामी ने कहा—भगवन् ! ऐसा दिव्य ज्ञान तो मेरे गुरु के अतिरिक्त किसी को नहीं था। आप मेरे गुरुदेव तो नहीं हैं ?

हँसकर महर्षि ने कहा—"हाँ, मैं तुम्हारा गुरु ही हूँ, तुम्हें उपदेश करने ही आया था, कि तुम आसक्ति से रहित होकर अपने को कर्ता न मानकर निष्काम भाव से ही कर्म करते रहो। तुम समझो गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं तुम उदासीन भाव से अपने को केवल साक्षी समझकर इस कर्मचक्र को देखते रहो। जितने

कर्म हैं, सब प्रकृति द्वारा हो रहे हैं। जो अहंकार से विमूढ़ बन गये हैं, वे अपने को कर्ता मान बैठे हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा—आप इस जगत् को उत्पन्न करते हैं और फिर इसका संहार करते हैं इस प्रकार बारम्बार इन्हीं व्यापारों को करते रहते हैं, तो ये कर्म आपके लिये बन्धन का कारण तो नहीं होते?

इस पर भगवान् ने कहा—"हे धनञ्जय! तुम भी तो धर्मराज के राजसूय यज्ञ के लिये राजाओं से बलपूर्वक धन छीन कर लाये थे। क्या तुमको उस धन छीनने से पाप लगा?"

अर्जुन ने कहा—भगवन्! मुझे पाप क्यों लगता। मेरी भावना तो शुद्ध थी, पुण्य कर्म के लिये धन लाया था, इससे पाप न लगकर मुझे पुण्य हो लगा। आप भी उसी कारण बड़े गौरव से मुझे धनञ्जय कहकर सम्बोधित कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा—तुमने पुण्य भावना से कर्म किया तुम्हें पुण्य लगा। मैं पाप पुण्य दोनों से रहित होकर कर्म करता हूँ, इसलिये वे कर्म मुझको बाँधते नहीं।

अर्जुन ने कहा—कर्म मात्र ही बन्धन का हेतु हैं, तब ऐसे भारी-भारी स्थिति प्रलय रूप कर्म आपको बाँधते क्यों नहीं।

भगवान् ने कहा—दो पंडित पक्ष विपक्ष लेकर शास्त्रार्थ कर रहे हैं। दोनों की ही विजय में आसक्ति है। दोनों ही विजय चाहते हैं। एक पराजित हो जाता है, तो उसे आसक्ति के कारण दुःख होता है, दूसरा विजयी हो जाता है विजय में आसक्ति के कारण उसे हर्ष होता है। किन्तु जो जय विजय दोनों से ही उदासीन है, उसे न हर्ष होता है न विषाद। मैं उदासीन के समान स्थित होकर सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्मों को करता रहता हूँ, इसलिये आसक्ति न होने के कारण मेरे लिये ये कर्म बन्धन के हेतु नहीं हैं।

अर्जुन ने कहा—आप उदासीन की भाँति स्थिर रहते हैं यह ठीक है, किन्तु उदासीन जो रहता है, वह कर्ता कभी नहीं होता। उदासीन तो निष्क्रिय होकर केवल साक्षी रूप से देखता रहता है। करने वाले दूसरे होते हैं। जैसे घर में दीपक जल रहा है, उसके प्रकाश में पाप या पुण्य कर्म करने वाले दूसरे होते हैं। दीपक तो केवल प्रकाश देता रहता है, वह बिना कुछ किये साक्षी बनकर अवस्थित रहता है, कोई पाप करता है, तो दीपक मना नहीं करता। पुण्य कर्म करता है, तो उसकी प्रशंसा नहीं करता। कर्ता और उदासीन दोनों एक साथ नहीं हो सकते ?

भगवान् ने कहा—हे कौन्तेय ! तुम यथार्थ कहते हो। वास्तव में मै कुछ भी नहीं करता। मै तो दीपक की भाँति केवल साक्षी मात्र हूँ। मेरे प्रकाश से प्रकाशित प्रकृति ही इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। यदि मैं करता होता तो मै तो सदा एक रस अपरिवर्तन शील हूँ। मेरा रचा हुआ ससार होता तो यह भी अपरिवर्तनशील होता है। क्योंकि मेरी प्रकृति परिवर्तनशील है, इसके द्वारा रचा होने से यह जगत् भी परिवर्तनशील है। यह जगत् अनेक प्रकार से परिवर्तित होता रहता है। मैं तो केवल अध्यक्ष मात्र हूँ। सभा की कार्यवाही कार्यकारिणी के निश्चयानुसार होती रहती है। मैं ता उच्चासन पर बैठा हुआ उसका अवलोकन मात्र करता रहता हूँ।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! आप तो निर्गुण निराकार हैं, फिर भी आप सगुण साकार रूप रख कर भाँति-भाँति के कर्म करते हुए से दिखायी देते हैं। जरासंध शिशुपाल कंसादि आपके कर्मों की निन्दा भी करते हैं। जब आप सर्व समर्थ हैं तो वे लोग आपकी निन्दा क्यों करते हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा ।

छप्पय

यदि तुम करता नहीं करौ फिरि कैसे जग कूँ ।
करता बिनु जड़ करै पार बाहन कस मग कूँ ॥
अरजुन भैया ! सुनो, प्रकृति अध्यक्ष कहाऊँ ।
मेरो पाइ सकाश ताहि तैं जगत रचाऊँ ॥
मेरे ई आधार तैं, प्रकृति चराचर जग करत ।
करमनि कूँ आगे किये, जगत-चक्र घूमत रहत ॥

भगवत् अवतारों की निन्दा करने वाले आसुरी स्वभाव के हैं

(६)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
(श्री भग० गी० ६ अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

मूढ़ न जानें मरम मोइ मानुस ई मानें ।
परम भाव नहिँ जानि कृष्ण यादव यह जानें ॥
मैं हूँ सर्वाधार सर्वव्यापी जगस्वामी ।
करता धरता और न हरता समुझें कामी ॥
सब भूतनि को महेश्वर, मूढ़ करें अपमान नित ।
जीव जगत उद्धार हित, आयौ नरतनु धारि इत ॥

---

* मनुष्य शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को लोग तुच्छ समझते हैं, वे मेरे सर्व भूत महेश्वर रूप भाव को मूढ होने के कारण जानते नहीं ॥११॥

वे अज्ञानीजन व्यर्थ की आशा करने वाले तथा व्यर्थ कर्म करने वाले होते हैं, क्योंकि वे मेरी मोहिनी राक्षसी और आसुरी प्रकृति का आश्रय लिये हुए हैं ॥१२॥

मानव जैसी प्रकृति का होता है, वैसी ही बात सोचता है। साधारण मनुष्य भगवान् को भी अपने ही समान सांसारी नियमों में बांधना चाहते हैं। जो नियम संसारी लोगों के लिये हैं, उन्हें *भगवान् पर भी लागू करना चाहते हैं। बहुत से लोग कहा करते हैं—"भगवान् तो निर्गुण निराकार हैं,* वे सगुण साकार कैसे हो सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म का अवतार सम्भव नहीं। भगवान् मानुषी शरीर कभी धारण कर ही नहीं सकते। जो शरीरधारी है, वह भगवान् हो ही नहीं *सकता।"*

वे भगवान् को भी अपने नियमों में आबद्ध करना चाहते हैं। वे भोले बन्धु इस बात को समझ ही नहीं सकते कि भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। वे निर्गुण निराकार भी हैं, सगुण साकार भी हैं, वे अशरीरी भी हैं और शरीरधारी भी है वे पुरुष भी बन जाते हैं और स्त्री रूप रख कर असुर प्रकृति वालों को मोह मे भी डाल सकते है।"

कुछ लोग कहते हैं—"यह तो नियम विरुद्ध है। सर्वसमर्थ का यह अर्थ नहीं कि भगवान् धर्म विरुद्ध कार्य करें। चोरी, जारी तथा मिथ्या आदि धर्म विरुद्ध कार्यों को करें।" बात यह है, कि जो भगवान् को सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, कर्तु-मकर्तुमन्यथा कर्तुं शक्य" नही मानते वे ही ऐसी बातें करते हैं। भगवान् धर्म अधर्म, पुण्य पाप के बन्धनों से परे हैं। उनके लिये न कोई धर्म है न अधर्म न उनके लिये पुण्य है न पाप। वे स्वेच्छाचार से भी ऊपर हैं। रही, चोरी, जारी तथा मिथ्या-पने की बात सो ये कर्म मनुष्यों के लिये दोषयुक्त हैं। भगवान् की चोरी लीला तो जीवों को और अधिक सुख देने वाली होती है। ऐसा न होता तो भगवान् की माखन चोरी लीला को सुन

कर भगवत् भक्त परम प्रमुदित क्यों होते ? ब्रजाङ्गनाओं के साथ की हुई रासलीला को सुनकर भागवत् जन प्रेम में विह्वल होकर अश्रु क्यों बहाते। जालंधर की पत्नी वृन्दा के साथ की हुई लीला को सुनकर भाव मग्न क्यों होते ?

महाभारत के समय भगवान् ने जो-जो मिथ्याचार की लीलाएँ की हैं, उन्हें यदि कोई साधारण मनुष्य करता तो वह सबसे बड़ा झूठा गिना जाता। क्या भीष्म पितामह का वध अन्याय पूर्वक नहीं हुआ ? क्या द्रोणाचार्य की मृत्यु के लिये भीम ने धर्मराज युधिष्ठिर तक ने असत्य भाषण श्रीकृष्ण की अनुमति से नहीं किया ? क्या विपत्ति में पड़े वीरवर कर्ण के ऊपर अन्याय पूर्वक प्रहार श्रीकृष्ण की ही आज्ञा से अर्जुन ने नहीं किया ? ये सब काम सांसारिक दृष्टि से धर्म के विरुद्ध थे, किन्तु श्रीकृष्ण धर्म अधर्म दोनों से परे हैं। उनकी आज्ञा परम धर्म है।

तभी तो भगवान् शुकदेव जी ने राजा परीक्षित् से रास क्रीड़ा प्रसंग में स्पष्ट कहा था—राजन्! ईश्वर कभी-कभी धर्म का उलङ्घन करते हुए देखे गये है। किन्तु उन कार्यों से उन तेजस्वी पुरुषों को कोई दोष नहीं होता। समर्थ्यवान पुरुष अहंकारहीन होते हैं, शुभ कर्मों के करने में उनका कोई सांसारिक स्वार्थ नहीं होता, और अशुभ कर्म करने में कोई अनर्थ नहीं होता। वे स्वार्थ और अनर्थ से ऊपर उठे होते हैं। यह बात तो उन सिद्धों के सम्बन्ध में है जो अभिमान शून्य है या सूर्य अग्नि आदि सामर्थ्यवान हैं। जब ये ही पुण्य पाप से नहीं बँधते तो सर्व समर्थ, सबके स्वामी सर्वेश्वर भगवान् को तो पुण्य पाप लग ही कैसे सकता है। भगवान् जीवों पर कृपा करने के लिये ही अपने को मनुष्य रूप में प्रकट करते हैं और ऐसी-ऐसी लीलायें करते

हैं जिन्हें सुन कर दैवी सम्पत्ति के जीव भगवत् परायण हों।

जो दैवी सम्पत्ति के जीव हैं, वे तो भगवान् की प्रत्येक लीला में परम सुख की अनुभूति करते हैं, किन्तु जो आसुरी सम्पत्ति के जीव हैं, वे तो मानव रूपधारी भगवान् का अनादर करते हैं। इसीलिये उद्धवजी ने विदुरजी से कहा था—"विदुर जी! यह मनुष्य लोक बड़ा भाग्यहीन है। इनमें भी यादव तो और भी अधिक हत भागी हैं, जिनके साथ श्रीकृष्ण निरन्तर रहे, फिर भी उन अभागियों ने भगवान् को पहिचाना नहीं। वे श्रीकृष्ण को भी अपने ही समान साधारण यादव ही मानते थे।"

भगवान् की यही तो भगवत्ता है, सदा समीप रहने वाले भी उनकी योगमाया के प्रभाव से उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं पहिचान सकते। दन्तवक्र, शिशुपाल, जरासन्धादि उनकी निरन्तर निन्दा ही किया करते थे। सत्यभामा के पिता सत्राजित् ने प्रत्यक्ष ही श्रीकृष्ण को स्यमन्तकमणि की चोरी लगा दी थी। उसी ने चोरी नहीं लगायी थी। यादवों के घर की स्त्रियाँ अपने बच्चों से कहने लगीं थीं—"देखना, सुवर्ण के आभूषण पहिनकर बाहर मत जाना, आजकल श्रीकृष्ण का मन सोने को देखकर विचलित हो जाता है।"

अब बताइये उन सर्वान्तर्यामी प्रभु के लिये क्या सोना या मिट्टी। फिर भी उनके अनन्य भक्त अक्रूरजी मणि को छिपाकर भाग गये। इसी से समझा जाता है, कि भगवान् जब मानुष रूप में आते हैं, तो किसी भाग्यशाली व्यक्ति की ही उन पर श्रद्धा होती है। भाग्यहीनों के तो साथ ही रहते हैं, फिर भी वे उन्हें पहिचानते नहीं।

दुर्योधन की राजसभा में भगवान् ने अपना विराट् रूप

दिखाया। जिसे देखकर अर्जुन चकित हो गया था भावविभोर हो गया था। भगवान् के उस रूप को देखकर भीष्मपितामह, धृतराष्ट्रादि तो गद्गद होकर उनकी स्तुति करने लगे, किन्तु आसुरी राक्षसी प्रकृति वाले दुर्योधन पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह भगवान् की खिल्लियाँ उड़ाते हुए कहने लगा— "श्रीकृष्ण यह बाजीगरी विद्या मुझे क्यों दिखा रहा है। ऐसे बाजीगरों के खेल मैंने बहुत देखे हैं।"

इससे यही सिद्ध हुआ कि भगवान् को अवतार धारण करने पर भी सब लोग नहीं समझ सकते। उनको तो उनके वे ही कृपापात्र दैवी सम्पत्ति सम्पन्न परम भक्त जान सकते हैं जिन्हें वे ही जनाना चाहते हों।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा कि भगवन् ! जब आप मानुसी शरीर धारण करते हैं, तो कुछ लोग आपकी निन्दा क्यों करते हैं ?

इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन ! सब लोग मेरी निन्दा या अनादर नहीं करते, कुछ ही ऐसे लोग होते हैं जो मेरा अनादर करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—ऐसे कौन पुरुष होते हैं भगवन् !

भगवान् ने कहा—वे वही लोग होते हैं जो मेरे पारमार्थिक स्वरूप को नहीं जानते।

अर्जुन ने पूछा—पूर्ण प्रकाश वाले आपके स्वरूप को वे क्यों नहीं पहिचानते ?

भगवान् ने कहा—अविवेक ने उनके अन्तःकरण को मलिन कर रखा है। उनमें यह विवेक करने की क्षमता नहीं होती कि सम्पूर्ण भूतों का जो एकमात्र महेश्वर मैं हूँ, मैंने ही मानुषी

शरीर धारण कर रखा है। रहस्य'को बिना जाने ही वे मेरा अनादर किया करते हैं। वे मेरे परमभाव को नहीं जानते।

अर्जुन ने पूछा—ऐसे निन्दकों की क्या गति होती होगी, प्रभो ?

भगवान् ने कहा—"वे लोग जिस आशा को लेकर मेरी अव॰हेलना करते हैं, उनकी वह आशा पूर्ण नहीं होती क्योंकि समस्त आशाओं का एकमात्र केन्द्र तो मैं ही हूँ।"

अर्जुन ने कहा—वे कर्मों को ही सब कुछ मानकर कर्म करते रहते हैं, उनके कर्म तो सफल हो जाते होंगे ?

भगवान् ने कहा—"कर्म कैसे सफल होंगे, समस्त कर्मों का एकमात्र फलदाता तो मैं ही हूँ। इसीलिये वे जो भी कर्म करते हैं, वे सब कर्म व्यर्थ के निष्फल कर्म होते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—उनका कर्म सम्बन्धी ज्ञान तो उत्तम ही होगा ?

भगवान् ने कहा—मुझे परित्याग करके जो ज्ञान है वह दूषित ज्ञान है। अतः उनका ज्ञान भी निर्दोष नहीं। उसे ज्ञान कहना व्यर्थ है, वह तो अज्ञान ही है। विवेक और विज्ञान से रहित वे लोग मोहपाश में बँधे रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—मोह पाश में वे क्यों बँधे रहते हैं ?

भगवान् ने कहा—उनका स्वभाव ही ऐसा होता है, वे मोह में आबद्ध करने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति का सदा आश्रय लिये रहते हैं। इसीलिये पारलौकिक फल तथा साधनों से शून्य रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! ये राक्षसी आसुरी तथा मोहिनी प्रकृति वाले तो शोचनीय हैं, अब कृपा करके यह बताइये कि अशोचनीय पुरुष कौन हैं ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मूढ़नि को नहिँ दोष प्रकृति वश जड़ बनि जावें।
आशा तिनि की व्यरथ मोघ आशा कहलावें॥
मोघ करम अति अज्ञ व्यरथ के करम करत हैं।
चित्त रहे विक्षित ज्ञान निज व्यरथ करत हैं॥
मेरी माया मोहिनी, के वश में बनि बकत हैं।
योनि राक्षसी आसुरी, में ही वे नित भ्रमत हैं॥

दैवी सम्पत्ति वाले महात्मा भगवान् का ही भजन करते हैं

[७]

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥*

(श्री भा० गी० ६ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

कुन्तीनन्दन ! किन्तु प्रकृति दैवी के प्रानी।
जो हैं मेरे भक्त तपस्वी ज्ञानी ध्यानी॥
वे महातमा श्रेष्ठ रूप मेरो सत मानें।
मोइ सनातन शुद्ध भूत-भावन करि जानें॥
सबके कारन सर्वगत, अव्यय अज सब गुन रहित।
जानि मोइ नित प्रति भजत, है अनन्य अति प्रेम चित॥

---

* किन्तु हे पार्थ ! जो दैवी प्रकृति का आश्रय करने वाले महात्मा हैं, वे मुझे ही सम्पूर्ण भूतों का आदि कारण तथा अव्यय जानकर अनन्य भाव से मेरा ही भजन करते हैं ॥१३॥

वे दृढ़व्रती निरन्तर मेरा कीर्तन करते रहते हैं। मेरी प्राप्ति के

अध्याय के आरम्भ में राजविद्या और राजगुह्ययोग बताने की भगवान् ने प्रतिज्ञा की। वह राजगुह्य योग और कुछ नहीं है दृढ़व्रती होकर निरन्तर भगवान् के नामों का भगवान् के गुणों का कीर्तन करते रहना ही है। अब तक इसी बात को भूमिका थी, अब उसी राजविद्या योग का विषय विवेचन आरम्भ करते है।

संसार में दो ही सम्पत्ति हैं, एक दैवी सम्पत्ति दूसरी आसुरी सम्पत्ति। दैवी सम्पत्ति से संसारी बन्धनों से मुक्ति होती है और आसुरी सम्पत्ति से संसार बन्धन और दृढ़ होता है, इस विषय का विवेचन भगवान् आगे विस्तार से करेंगे। अब दृढ़व्रत पर विचार करना चाहिये। दृढ़व्रत को ही महाव्रत भी कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि ये व्रत हैं। जब ये ही व्रत जाति, देश, काल और अवसर की सीमा से असमर्यादित हो जाते हैं, अर्थात् सभी देशों में, सभी जाति में, सभी काल में तथा सभी अवसरों पर इनका दृढ़ता के साथ पालन किया जाय, तो वे सार्वभौम व्रत महाव्रत कहलाते हैं। जैसे जाति से ब्राह्मण की हिंसा न करूंगा, ब्राह्मण की वस्तु न चुराऊँगा, ब्राह्मण से झूठ न बोलूँगा, ब्राह्मणी के साथ गमन न करूंगा। ब्राह्मण की वस्तु न संग्रह करूंगा। यह जाति गत अहिंसादि व्रत हैं। देशगत जैसे तीर्थ स्थानों में हिंसा न करूंगा, तीर्थ स्थानों में असत्य भाषण न करूंगा आदि-आदि यह देशगत व्रत है। कालगत जैसे अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति तथा व्यतीपात तिथियों में हिंसा न करूंगा, असत्य भाषण न करूंगा, यह कालगत व्रत है। अवसर गत जैसे यज्ञादि विशेष अवसरों को छोडकर अहिंसादि का पालन

हेतु यत्न करते हुए मेरे को नमस्कार करते हैं। नित्ययुक्त होकर भक्ति पूर्वक मेरी उपासना करते हैं ॥१४॥

करूँगा। इसी का नाम अवसरकृत व्रत है। जिस व्रत में देश, काल, जाति, अवसर की सीमा की मर्यादा न हो। जो सभी प्रकार के अपवादों से रहित होकर सामान्य रूप से सदा सर्वदा पालन करते हुए इन नियमों को साधता रहे वही दृढ़व्रती है।

दृढ़व्रती महात्मा किसी विशेष जाति में किसी विशेष देश में, किसी विशेषकाल में नहीं होते। वे तो सभी कालों में सभी जातियों में और सभी देशों में उत्पन्न होते हैं। उच्च जाति में जन्म ले लेना, उच्चपद प्राप्त कर लेना, कोई विशेष विद्या को प्राप्त कर लेना, किसी विषय में विशेषज्ञ बन जाना ये ही सब गुण भगवान् को प्राप्त करने में पर्याप्त नहीं होते हैं। भगवान् तो केवल निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त जितने गुण हैं वे सब तो विडम्वनामात्र नीचता और श्रेष्ठता, महात्मापन और अमहात्मापन जातिगत नहीं होता। वह तो भक्तिगत दैवी सम्पत्ति के द्वारा जाना जाता है। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

एक राजा की हथेली में बाल उत्पन्न हो गया। राजा ने विद्वान् ब्राह्मणों को ज्योतिषियों को बुलाकर पूछा—"और तो किसी को हथेली में बाल नहीं होता, मेरी हथेली में यह बाल कैसे उत्पन्न हो गया? यह शुभ है या अशुभ?

ज्योतिषियों ने कहा—महाराज, यह तो अशुभ लक्षण है।

राजा ने पूछा—यह बाल कैसे जाय? इसका कोई उपाय बताइये।

विद्वानो ने कहा—महाराज, किसी नीच व्यक्ति के हाथ का छूआ हुआ भोजन करलें तो यह बाल चला जायगा।"

उन राजा के राज्य में एक बड़ा ही भगवत् भक्त दैवी सम्पत्ति युक्त सदाचारी शूद्र रहता था। राजा ने उससे कहा—मैं कल तुम्हारे यहाँ भोजन करूँगा।"

शूद्र के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। आठों लोकपाल जिसके शरीर में निवास करते हैं, जो भगवान् की विभूति ही माने जाते हैं, वे मेरे यहाँ कल भोजन करेंगे। उसने अपनी पुरानी झोंपड़ी में आग लगा दी। कहीं से नया फूंस नये बास बल्ली मँगाकर नूतन झोंपड़ी बनाई। गौ के गोबर से अत्यन्त ही पवित्रता से उसे लीपा। मिट्टी के पुराने बर्तन फेंक दिये। नूतन बर्तन ले आया भोजन बनाने के बर्तन भी नूतन लाया अपनी पत्नी के पुराने वस्त्र फिकवा दिये। नूतन शुभ्र स्वच्छ पवित्र वस्त्र स्वयं भी पहिने पत्नी को भी पहिनाये। बड़ी ही पवित्रता से गंगा जल लाकर पाक तैयार किया। भगवान् का भोग लगाया। हरी-हरी मंजरी डालकर प्रसाद बनाया। हरे हरे ढाक के पत्तों की स्वच्छ पत्तल बनाकर उसमें राजा को परोसा। नये कुशासन पर राजा को बिठाया। नये मिट्टी के बर्तन में गंगा जल भर कर आगे रखा। राजा ने बड़ी रुचि से प्रसन्नता पूर्वक प्रसाद पाया। बड़े भक्ति भाव से शूद्र सपत्नीक उनकी सेवा में संलग्न रहा।

खा पीकर राजा चला गया, किन्तु उसकी हथेली का बाल नहीं गया। तब उसने अपने प्रधान मंत्री से जो विद्वान भी था ब्राह्मण भी था उससे कहा—"मंत्री जी! विद्वानों ने नीच के हाथ के भोजन करने से बाल के चले जाने की बात बताई थी, किन्तु नीच के यहाँ मैने भोजन भी कर लिया, फिर भी मेरे हाथ का बाल नहीं गया।

मंत्री ने कहा—राजन्! अपराध क्षमा हो, कोई नीच जाति में ही उत्पन्न होने से नीच नहीं हो जाता, जिनके हाथ का आपने भोजन किया है वे तो छोटी जाति में उत्पन्न होने पर भी दैवी सम्पत्तियुक्त महात्मा हैं, चलिये मैं आपको नीच बताता हूँ।"

मंत्री की बात सुनकर राजा उनके साथ गये। एक किसान

खेत जोत रहा था। दोपहर हो गया था, बैल बहुत निर्बल थे, वे थक गये थे। भूखे प्यासे थे वे चल नहीं रहे थे। किसान उन्हें बार-म्बार निर्दयता से मार रहा था, लोहे की कील उनके शरीर में चुभो रहा था। वे रक्त से लथपथ थे, उसके दोनों हाथ भी बैलों के रक्त में सने थे। फिर भी वह बैलों को मार-मार कर खेत को जोत रहा था। इतने में ही उसकी स्त्री रोटी लेकर आ गयी और बोली दोपहर तो हो गया, बैलों को छोड़ दो रोटी खालो।"

उसने कहा—आज इतना खेत मुझे जोतना ही है, मैं आज दिन भर जोतूँगा। मैं जोतता रहूँगा, तू मुझे चलते-चलते रोटी खिलाती जा। उसकी स्त्री की गोद में बच्चा था, वह गोद में बच्चा लिये हुए हल हाँकते हुए अपने पति के साथ-साथ उसे खिलाती हुई चल रही थी। वह बैलों के रक्त से रंगे हाथों से ही रोटी खाता हुआ बैलों को मारता हुआ चल रहा था।

मन्त्री ने कहा—महाराज, यह है नीच इससे रोटी माँग कर खा लो।"

राजा साधारण मनुष्य के वेष में थे उन्होंने किसान से कहा—भाई, हमें थोड़ी रोटी दे दो।"

उसने क्रोध में भरकर कहा—तुम पैदा करके रख गये थे। संडे-मुसंडे घूम रहे हो। मिहनत मजूरी क्यों नहीं करते। जाओ यहाँ रोटी नहीं है। दूसरे स्थान में माँगो।"

मन्त्री ने कहा—महाराज, इसी की रोटी खाने से आपकी हथेली का बाल जागया। आप थोड़ी देर ठहरे रहे। इतने में ही उसकी स्त्री की गोदी में पड़े बच्चे ने शौच कर दिया स्त्री उसे सम्हालने लगी। ग्रास उसके हाथ से छूटकर भूमि पर गिर गया। मंत्री ने कहा—"महाराज, शीघ्रता से उठाकर इसे खालो। राजा ने ऐसा ही किया। उस ग्रास को झट से उठाया, पट से

मुख में रखा और चट से चबाया और सट से निगल गये। उसके खाते ही राजा का बाल तुरन्त चला गया।

मंत्री ने कहा—"महाराज, नीचता और ऊँचता का मुख्य कारण तो सद्गुण तथा दुर्गुण ही हैं। जाति, देश, काल, समय ये तो गौण कारण हैं।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने आसुरी राक्षसी मोहिनी प्रकृति के अधीन पुरुषों को शोचनीय बताया तो अर्जुन ने पूछा—भगवन् वे लोग तो शोचनीय हैं, किन्तु अशोचनीय कौन हैं ?

भगवान् ने कहा—"महात्मागण ही अशोचनीय हैं। वे ही एक मात्र समस्त पुरुषार्थों के पात्र हैं।"

अर्जुन ने पूछा—महात्मा किसे कहते हैं महात्मा के लक्षण क्या हैं ?

भगवान् ने कहा—जो आसुरी सम्पत्ति के विरुद्ध दैवी सम्पत्ति सम्पन्न हों।

अर्जुन ने पूछा—दैवी सम्पत्ति किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का विस्तार से वर्णन तो मैं आगे करूँगा। यहां तुम इतना ही समझ लो कि जिनका चित्त मेरे अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में किसी भी दूसरी ओर न जाता हो और जो मुझे ही समस्त भूतों का एक मात्र कारण तथा अविनाशी मानते हों। वे दैवी सम्पत्ति सम्पन्न महात्मा है वे ही बडभागी दैवी प्रकृति का आश्रय ग्रहण करके निरन्तर मेरा ही भजन करते रहते हैं। ऐसा स्वभाव अनेकों जन्मों के शुभकर्मों का फल है।

अर्जुन ने पूछा—"कुछ काल तो भगवन् आपका भजन कर लें

और कुछ काल संसारी विषयों का भी चिन्तन कर ले तो काम नहीं चलेगा क्या ?"

भगवान् ने कहा—नहीं, कभी नहीं। परस्पर विरुद्ध दो कार्य एक साथ नहीं हो सकते हैं। आप चाहो कि हँसते भी रहें और गालो को भी फुलाये रहें यह असंभव है। मेरे नाम तथा गुणों का कीर्तन सतत होना चाहिये। अखड भाव से कीर्तन होते रहना चाहिये। संतत स्मरण करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—आपका सतत कीर्तन किस प्रकार करना चाहिये ?

भगवान् ने कहा—दृढ़व्रती बनकर मेरा सतत कीर्तन करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—दृढ़व्रती किसे कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—जो दृढ़तापूर्वक अपने व्रतों का पालन करता हो, वही दृढ़व्रती कहलाता है। जो ढीलम ढाल होते हैं तनिक मे प्रलोभन के वशीभूत होकर जो अपने व्रत से विचलित हो जाते हैं, उनके द्वारा मेरा सतत कीर्तन असंभव है। इसलिये जो महात्मा दृढ़ नियमों को धारण करके मेरे यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रबल प्रयत्न करते हैं वे ही दृढ़व्रती महात्मा कहलाते हैं।"

अर्जुन ने पूछा— वे नियमों का दृढ़ता के साथ पालन करते हुए और क्या करते है ?

भगवान् ने कहा—ऐसे महात्मा अभिमान को अपने पास फटकने नहीं देते। ऐसा अभिमान नहीं करते हैं कि हम जिस प्रकार कठोरता से नियम पालन करते है, ऐसे दूसरा कोई नहीं कर सकता। वे पूजा उपासना, कीर्तनादि कम करते हुए प्रतिक्षण उसे मुझे समर्पित करते रहते हैं। वे बार-बार कहते हैं "इदं न मम"

यह कार्य मैंने प्रभु के प्रीत्यार्थ प्रभु की ही प्रेरणा तथा कृपा से किया, अतः इसे प्रभु के ही पादपद्मों में समर्पित करता हूँ।" इस प्रकार वे बार-बार विनय तथा भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते रहते हैं और सर्वथा निरभिमानी बनकर मेरी उपासना करते रहते हैं ? ऐसे भक्त प्रवर महात्मा ही दैवी सम्पत्ति सम्पन्न बड़भागी होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—सतत कीर्तन, निरन्तर नमस्कार, दृढ़ता-पूर्वक नियमों को धारण करते हुए आपकी उपासना करना इस अनन्याश्रयी भक्ति के अतिरिक्त भी कोई आपको पाने का साधन है ?

भगवान् ने कहा—है क्यों नहीं, अनेक साधन है। समस्त साधनों का सार यही है, कि येन केन प्रकारेण मन को मेरे में लगा दे। इस अनन्याश्रयी भक्ति के अतिरिक्त जो और साधन हैं उन्हें भी मैं तुमसे बताता हूँ।

सूतजी कहते है—मुनियो ! अनन्य भक्ति के अतिरिक्त जो साधन भगवान् बतावेंगे उनका वर्णन मै आगे करूँगा।

छप्पय

वे अति दृढ़व्रत भक्त प्रेम में विह्वल ह्वै कें।
करें कीरतन नाम गुननि को गद्गद ह्वैकें ॥
कैसे हू हरि मिलैं सतत वे जतन करत हैं।
भूमि लोटिकें भक्ति सहित नित प्रति प्रनमत हैं ॥
त्रिभुवन पावन रूप मम, ध्यान हिये में नित धरत।
मम उपासना प्रेम तैं, अति अनन्य ह्वैकें करत ॥

उपासक सभी रूपों में भगवान् की ही उपासना करते हैं

[८]

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

ये तो मेरे भक्त भक्ति तैं मोकूँ ध्यावैं ।
ज्ञानी हैं जो भक्त ज्ञान–मख करिकें पावैं ॥
मेरो करिकें भजन मोइ में चित्त लगावैं ।
नित उपासना करैं ज्ञान तैं ज्ञानी ध्यावैं ॥
मोइ विश्वतोमुख समुझि, पृथक भाव पूजन करैं ।
अपर भाव एकत्व करि, ध्यान सदा मेरो धरैं ॥

---

* कुछ लोग मुझ विश्वतोमुख ब्रह्म को ज्ञान यज्ञ से एकत्व भाव द्वारा पूजते हैं, दूसरे लोग पृथक् भाव रखकर पूजते हैं, तथा अनेक लोग अनेक भाव से मेरी उपासना करते हैं ॥१५॥

मैं ही क्रतु (श्रौतकर्म) हूँ, मैं ही यज्ञ (स्मार्तकर्म) हूँ मैं ही स्वधा, औषधि, मन्त्र, घृत, अग्नि तथा हवन क्रिया हूँ ॥१६॥

सुख स्वरूप एक मात्र श्री भगवान् ही है। समस्त प्राणी सुख प्राप्ति के लिये ही सदा सर्वदा साधन करते रहते हैं। इससे सिद्ध हुआ सभी जो कुछ कर रहे हैं, सुख स्वरूप सर्वेश्वर की ही प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं, किन्तु उनका साधन अज्ञानता पूर्वक है, अविधि युक्त हैं। विधि पूर्वक तो यही है, कि चाहे अभेद भाव से अथवा भेद भाव से संसारी सुखों से पराङ्मुख होकर उन सर्वेश्वर का ही एकमात्र भजन करना चाहिये।

भजन के तीन ही प्रकार हैं। एक तो अभेद भाव भजन होता है, इसे अहंग्रह उपासना कहते है। सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह जो दृश्य प्रपञ्च दृष्टि गोचर हो रहा है, यह मिथ्या है, भ्रम द्वारा कल्पित है, इससे मन हटाकर एकमात्र सच्चिदानन्द घन ब्रह्म का ही श्रवण, मनन निदिध्यासन करते रहना चाहिये।

दूसरे प्रकार की उपासना द्वैत भाव से होती है। ब्रह्म और जीव दो हैं। जीव यद्यपि ब्रह्म का अंश है, फिर भी उसकी पृथक् सत्ता है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है। ब्रह्म अंशी है, जीव उसका अंश है। जीव कभी ब्रह्म नही हो सकता। ब्रह्म स्वामी है जीव दास है। ब्रह्म सेव्य है, जीव सेवक है। जो जीव ब्रह्म की उपासना न करके जगद् की–विषय भोगों की–उपासना करता है वह बद्ध जीव है, जो जीव संसार की उपासना छोड़कर एकमात्र भगवान् की उपासना करता है, वह मुक्त जीव है। मुक्त जीव आवागमन से रहित हो जाता है, संसारी बन्धनों से विमुक्त हो जाता है, वह सदा सर्वदा अपने इष्ट के लोक में रह कर उन्हीं की उपासना में तत्पर रहता है।

तीसरे वे उपासक हैं, जो विभिन्न देवी देवताओं की सकाम

भाव से पूजा करते हैं। यद्यपि वे भी प्रकारान्तर से सर्वान्तर्यामी प्रभु की ही उपासना करते हैं, किन्तु वे सीमित रूप में उन्हीं देवताओं को पूजते हैं अतः उन्हीं-उन्हीं देवताओं के नश्वर लोकों को प्राप्त होते रहते हैं।

एक साधक किन्हीं महात्मा के समीप गया और उनसे पूछा—भगवन् प्रभु प्राप्ति का साधन बतावें।" उन्होंने कहा—"बताने वाले में और पूछने वाले में भेद बुद्धि मत कर। यही सोच ले मैं ही कर्ता हूँ मैं ही वक्ता हूँ। मैं ही गुरु हूँ मैं ही शिष्य हूँ। मेरे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।"

साधक ने कहा—"भगवन् ! ऐसा तो मैं नहीं कर सकता।"

तब महात्मा ने कहा—"अच्छा तो जिसे तू श्रेष्ठ समझता है, उसी पर अपने को छोड़ दे। सर्वात्म भाव से उन्हीं की शरण में जा। उनके भजन के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य न कर।"

साधक ने कहा—"यह भी मेरे लिये कठिन पड़ेगा। मैं सब कुछ छोड़कर आठ पहर चौसठ घड़ी केवल उन्ही का भजन करने में असमर्थ हूँ।"

तब महात्मा ने कहा—"अच्छा, तो सब कर्म करते हुए यही कर कि मैं प्रभु के लिये ही कर्म कर रहा हूँ। खेती करो तो सोचो—मैं प्रभु को भोग लगाने के लिये अन्न पैदा कर रहा हूँ। दूसरों की सेवा में संलग्न हो, तो यही समझो जिसकी सेवा कर रहा हूँ, वह भी भगवत् स्वरूप है। सेवा करते हुए भी सेवकपने का कर्तापने का अभिमान न होने पावे।"

ये ही तीन मार्ग ज्ञान मार्ग, उपासना मार्ग या निष्काम कर्म मार्ग है। वैदिक भक्ति को उपासना कहते हैं पौराणिकी

भक्ति का नाम भक्ति है। निष्काम भाव से किये जाने से उसे निष्काम कर्म मार्ग भी कहते है।

वर्णाश्रम धर्म विहित अपनी निष्ठा और अधिकारानुसार कर्तव्य समझ कर जो कर्म किये जाते हैं, उसी का नाम कर्म मार्ग है।

एक स्वर्ग की कामना से भी यज्ञ यागादि शुभ कर्म किये जाते हैं, यह पुनरावृत्ति मार्ग है। इस मार्ग में बार-बार संसार में आना जाना लगा रहता है। ज्ञान मार्ग उपासना या भक्ति मार्ग तथा कर्म मार्ग वालों का संसार बन्धन छूट जाता है, वे पुनः नहीं आते। यह अपुनरावृत्ति मार्ग कहाता है।

सूतजी कहते हैं - मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा–कि आपकी अहैतुकी अनन्य भक्ति जिसे आपने राजविद्या और राजगुह्य बताया है। उसके अतिरिक्त भी कोई आपकी प्राप्ति का अन्य साधन है क्या ?

इस पर भगवान् ने कहा—"अर्जुन मुझे प्राप्त करने के और भी बहुत से साधन हैं। कुछ पुरुष ज्ञान यज्ञ के द्वारा भी मेरा पूजन करते हैं। कुछ लोग भेद रूप से मेरी उपासना करते हैं, कुछ लोग अनेक प्रकार के देवताओं के रूप से मेरी उपासना करते हैं। कारण यह है कि मेरा कोई एक रूप तो निश्चित नहीं। मैं संसारी लोगों की भाँति किसी एक रूप में आबद्ध नहीं हूँ, मैं सर्वरूप हूँ। सभी मेरे ही रूप हैं। जब सभी मेरे रूप हैं, देवता भी मेरे ही रूप हुए, इसलिये जो देवता रूप से मेरी उपासना करते हैं वे भी मेरी ही उपासना करते हैं।"

अर्जुन ने पूछा–प्रभो ! आप अपने को विश्वरूप-सर्वरूपमय बता रहे हैं, सो कैसे ? यज्ञ करने वाले याज्ञिक तो आपको

इन्द्र रूप में, विष्णु रूप में या अन्य देवों के रूप में मानकर हवि प्रदान करते हैं।

भगवान् ने कहा—यज्ञीय हवि को मैं देव रूप से अपने मुख अग्नि द्वारा अवश्य ग्रहण करता हूँ, किन्तु देवता ही मेरा रूप नहीं। यज्ञ तथा यज्ञ के सम्पूर्ण सम्भार मेरे ही रूप हैं। यज्ञ दो प्रकार के होते हैं।

अर्जुन ने पूछा—दो प्रकार के यज्ञ कोन-कौन से होते हैं ?

भगवान् ने कहा—एक क्रतु दूसरा यज्ञ। श्रौत यज्ञ क्रतु कहाते हैं जैसे अश्वमेधादि बड़े-बड़े यज्ञ। और यज्ञ शब्द से यहाँ देव पूजा, सगति करण दान जपादि जो भी शुभ कर्म है उनका ग्रहण करता चाहिये। जैसे बलि वैश्य देव--पच यज्ञदार्श, पौर्णिमा, चातुर्मास्यादि कर्म इनका उल्लेख पहिले हो चुका है, वे सभी जप देव पूजादि कर्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। अर्थात् सब प्रकार के यज्ञ मेरे ही रूप हैं।

अर्जुन ने पूछा—"केवल देवताओं के निमित्त किया हुआ ही यजन आपका रूप है ?"

भगवान् ने कहा—ऐसी बात नहीं है। अग्नि की पत्नि स्वाहा है और पितरों की स्वधा है। स्वाहा कहकर जो हवि अग्नि में दी जाती है, उसे तो देव गण ग्रहण करते हैं। और स्वधा कहकर जो अन्न जल दिया जाता है उसे पितर ग्रहण करते हैं। अतः क्रतु तथा यज्ञों में प्रयुक्त स्वाहा भी मेरा स्वरूप है और उसी प्रकार स्वधा भी मेरा ही स्वरूप है।

अर्जुन ने पूछा—केवल देवताओं और पितरों के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ तथा तर्पण श्राद्ध ही आपके रूप हैं ?

भगवान् ने कहा—अरे, भाई मैं कह तो चुका मैं सर्व रूप हूँ। यज्ञ श्राद्ध तो मेरा रूप हैं ही। उनमें प्रयुक्त समस्त औष-

धियाँ भी मेरा ही स्वरूप हैं। औषधि उसका नाम है जो फल आने पर पक जाय, जैसे धान हैं, जो हैं, तिल है तथा समस्त पैदा होकर पकने वाली जड़ी बूटी औषधि कहलाती है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो औषधि न हो। वे सभी मेरा ही रूप हैं। जिन मन्त्रों से आहुतियाँ दी जाती हैं, वे वेदादि मन्त्र सब मेरे ही रूप हैं। जिस घृत से आहुतियाँ दी जाती हैं जो घृत पृथ्वी का अमृत माना जाता है वह भी मेरा ही स्वरूप है। जिस अग्नि में आहुति हवन की जाती है वह अग्नि भी मेरा ही रूप है। सारांश यह है कि क्रिया, कारक तथा फल सभी मेरे ही रूप हैं मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! "यज्ञोवैवृष्णुः" यज्ञ ही विष्णु है, इस न्याय से यज्ञ तो आपका रूप है और भी संसारी सम्बन्ध आपके रूप हैं क्या?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका जो उत्तर भगवान् देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अरजुन! मख तुम करौ सबनि में मोकूँ मानों।
क्रतु अरु यज्ञ स्वरूप उभय मेरे ही जानों॥
पितरनि की हौं स्वधा सुरनि की स्वाहा मैं हूँ।
औषधि मेरो रूप मन्त्र श्रुति के हू मैं हूँ॥
घृत मख को मैं ही बन्यो, अगिनि कह्यो मम रूप है।
हवन क्रिया ही हौं बनूँ, मेरो सकल स्वरूप है॥

सर्वरूपों में भगवान् ही हैं

[६]

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० १७, १८, १६ श्लो०)

छप्पय

धारन जगकूँ करूँ तबहिँ कहलाऊँ धाता।
मोतेँ ही जग होहि कहैं सब मोतेँ माता॥
पालन तेँ हूँ पिता पितामह हौं कहलाऊँ।
जग कूँ ब्रह्मा रचैं उनहिँ को पिता कहाऊँ॥
हौं ही जानन जोग्य हूँ, मैं ही हूँ पावन प्रणव।
मैं ही ऋग, यजु, साम हूँ, वेद अपर हौं ही थरव॥

---

* इस जगत् का मैं धाता, माता, पिता, पितामह हूँ, एक मात्र जानने योग्य मैं ही हूँ, पवित्र ओंकार, ऋक्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूँ ॥१७॥

जीव दुख की अनुभूति कब करता है ? जब वह अपने को स्वतंत्र कर्ता मान बैठता है। जड संसार में सुख कहाँ ? संसार में जो यत् किंचित सुख की अनुभूति होती है, वह आत्मा के सुख की छाया ही है। सुख स्वरूप तो आत्मा ही है। आत्मा सुख का जहाँ आभास पड़ जाय जहाँ भी आत्मीयता हो जाय, वहीं सुख प्रतीत होने लगता है। एक गाँव में पास पडौस में १०-२० लडके हैं, सब एक साथ उठते बैठते हैं खेलते कूदते हैं। उनमें से किसी एक लडके से देवदत्त की मित्रता हो जाती है। यद्यपि उससे सुंदर, उससे गुणी, उससे कलाकार और भी हैं, किन्तु उनके प्रति अपनापन नहीं, सौहार्द्र नहीं, आत्मीयता नही इसीलिये उसे छोड़कर अन्य किसी के संग में सुखानुभूति नहीं होती। उसे देखकर ही हृदय की कलियाँ खिल जाती हैं, इच्छा होती है उसे आँखो में बिठालें हृदय में छिपा लें। यह जो इतना सुख प्रतीत होता है, वह उसके हाड मांस के शरीर से नहीं। उसमें जो आत्मीयता है, अपनापन है उसी का सुख है। कोई भी वस्तु न गुणवाली है न गुणहीन। किन्तु जिसके प्रति आत्मीयता हो जाती है अपनापन हो जाता है, प्रेम हो जाता है, वह चाहे दूसरों की दृष्टि में बुरी ही क्यों न हो उसे प्यारी लगती है। जैसे प्याज है, जो उसे नहीं खाते हैं, उन्हें उसकी ओर देखने से भी घृणा है, किन्तु

मैं ही इस संसार की गति हूँ। भर्ता प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, सबका आधार, निधान और अव्यय बीज मैं ही हूँ ॥१८॥

हे अर्जुन ! मैं ही सूर्य बनकर तपता हूँ। वर्षा को आकर्षण करता हूँ, पानी को बरसाता हूँ और मैं ही अमृत तथा मृत्यु, सत् और असत् हूँ ॥१९॥

जो उसका सेवन करते हैं, जिनका उसके प्रति लगाव है उन्हें उसके बिना भोजन ही रुचिकर नहीं होता।

एक राजकुमार था, वह एक साधारण लड़की से प्रेम करने लगा। इसकी सर्वत्र काना फूंसी होने लगी। राजकुमार की छिपे-छिपे निन्दा होने लगी।

एक दिन राजकुमार के एक मित्र ने कहा—राजकुमार! वह लड़की तो कुलीन भी नहीं है, उसमें कोई गुण भी नहीं। रगरूप की भी वह काली है, तुम क्या सोचकर उससे प्रेम करते हो। उस काली कुरूपा को छोड़, एक बहुत ही सुंदरी सद्कुलोद्भवा राजकुमारी है उससे विवाह करलो।"

राजकुमार ने कहा—मित्र! तुमने जो मुझे शिक्षा दी उसके लिये धन्यवाद है। किन्तु जिसे तुम काली कुरूपा कह रहे हो, उसे तुमने अपनी आंखो से देखा है। मुझ राजकुमार की आँखों से तुम देखते तो तुम्हें संसार में उससे बढ़कर कोई सुंदरी दिखायी ही न देती।"

वास्तविक बात यही है, अपनी-अपनी भावनायें भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। अपनी अन्तरात्मा जिस वस्तु को अच्छा मानले वही अच्छा जिसे बुरा मानले वही बुरा।

शिवजी की प्राप्ति के निमित्त तपस्या करती हुई पार्वतीजी से सप्तर्षियों ने कहा—"शैलराजपुत्री! तुम तो भोली हो, तुममें विवेक की कमी है। शिवजी में तुमने कौन-सा गुण देखा है, जिसके कारण तुम उनसे विवाह करना चाहती हो? हमें तो शिवजी में सब अवगुण ही अवगुण दिखायी देते हैं। वे दिगम्बर रहते हैं। वस्त्र नहीं पहिनते। आभूषण भी उनके शरीर में नहीं। वस्त्र के नाम पर उनके सम्पूर्ण शरीर में भस्म लिपटी रहती है। वह भस्म भी यज्ञ की पवित्र भस्म नहीं। श्मशान

की शव की चिता की महा अपवित्र भस्मी होती है। आभूषणों के स्थान में उनके सभी अंगों में सर्प लिपटे रहते हैं। हाँ एक माला वे अवश्य पहिने रहते हैं, वह भी पवित्र तुलसी की नहीं। नरमुंडों की माला रहती है। उनके साथी देखो महातामसी भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, भैरवी, चामुंडा और न जाने कौन-कौन विकृत वेष वाले होते हैं। उनका भोजन भी विचित्र है। आक, धतूरा, और हालाहल विष। वेष उनका परम विकृत। पांच मुख मर्कट जैसे लोचन डमरू बजाकर, बाघम्बर फैलाकर श्मशान में तांडव नृत्य करते रहते है। वे रसिक भी नहीं। नीरस हैं। कामदेव को उन्होंने क्रोध में भरकर क्षार कर दिया है। ऐसे विषयों से सर्वथा उदासीन शिव से विवाह करके तुम क्या सुख पाओगी। अतः हमारी बात मानो, अपना हठ छोड़ दो। समस्त गुणों की एक मात्र खान, परम स्वरूपवान् अलंकार प्रिय, वस्त्राभूषणों से सर्वथा सुसज्जित रहने वाले समस्त सद्गुणों के आलय, भक्तवत्सल, परम रसिक, सबके मनको मोहने वाले श्री विष्णु के साथ तुम विवाह कर लो।"

इस पर पार्वतीजी ने कहा—"मुनियो! मैं आपकी बातों का प्रतिवाद नहीं करती। मैं माने लेती हूँ, महादेवजी में भले ही समस्त अवगुण भरे हों, और भगवान् विष्णु भले ही समस्त गुणों की खान होंगे फिर भी मेरी अन्तरात्मा तो शिवजी को ही चाहती है मेरी आत्मीयता कैलाश वासी भगवान् भोले बाबा के ही प्रति हो गयी है। वे ही मेरे सर्वस्व हैं, अतः मैं तो एक मात्र शिवजी को ही वरण करूंगी। उनके प्राप्त न होने पर तब तक जन्म लेती रहूँगी जब तक वे मुझे प्राप्त नहीं होंगे।"

वास्तव में अन्य कोई प्रिय नहीं, सबसे प्रिय आत्मा ही है। जिसमें आत्मीयता हो जाती है वही प्रिय लगने लगता है

बात महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कही थी—"मैत्रेयी ! एक मात्र आत्मा है सबसे प्रिय परम धन है। आत्मा की प्रियता के कारण ही धन, जन आदि प्रिय प्रतीत होते हैं। आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। ये समस्त देवता, समस्त प्राणी जो भी कुछ दृश्य प्रपञ्च है सब आत्मा ही है। समस्त वेद, पुराण, उपनिषद श्लोक, सूत्र विवरण समस्त विद्यायें परमात्मा की निःश्वास हैं।"

इस प्रकार आत्मज्ञान होने पर प्राणी निर्भय तथा दुःख रहित बन जाता है। सबसे अधिक भय प्राणियों को मृत्यु का होता है। रुद्रगीत में "मृत्यवे दुःखहाय च" कहकर दुख देने वाले मृत्यु को भी भगवान का रूप ही बताया है। जो व्यक्ति मृत्यु को भी आत्मरूप मानेगा उसे दुःखानु भूति हो ही कैसे सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् अपनी सर्वरूपता बताते हुए कह रहे हैं—अर्जुन यज्ञ तथा उसके संभार ही मेरे रूप नहीं है। संसारी सभी सम्बन्धों में मै ही हूँ। इस जगत् का उत्पन्न करने वाला पालन करने वाला पिता भी मैं ही हूँ। यही नहीं कि पुरुष रूप से पिता ही हूँ। स्त्री रूप में जन्म देने वाली माता भी मै ही हूँ। पालन पोषण करने वाला धाता भी मै ही हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—संसार में जो पिता होता है उसका पिता दूसरा होता है, उसका भी पिता दूसरा होता है। जैसे पिता, पितामह, प्रपितामह वृद्ध प्रपितामह आदि-आदि तो आपकी भी ऐसी परम्परा है क्या ?

भगवान् ने कहा—समस्त परम्पराओं का जनक मैं ही हूँ। मैं ही पिता, मैं ही पितामह, मैं ही प्रपितामह तथा वृद्ध प्रपितामह हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं। संसार में जो भी जानने योग्य वस्तु है। सबमें ही हूँ, पवित्र ओंकार जो वेदों का

बीज है, मैं ही हूँ, शुद्धि के हेतु जो पावन कर्म हैं, वे भी मेरे ही रूप हैं। जिस ऋक्वेद के अक्षर पद नियत हैं वह मेरा ही स्वरूप है। जिसके पद गाये जाते हैं वह गायन करने वाला सामवेद भी मैं ही हूँ, जिसके पद अक्षर नियत नहीं होते वह यजुर्वेद भी मैं ही हूँ, और वेदत्रयी के ही अन्तर्गत जो चौथा अथर्ववेद है वह भी मै ही हूँ।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! इस जगत् की सृष्टि तो ब्रह्मा करते हैं। ब्रह्मा, विश्वकर्मा, धर्म, महत्तत्व और अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति ये ही जगत् की गति बताये गये हैं? क्या ये सब आपसे भिन्न हैं?

भगवान् ने कहा—नहीं, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है सबकी गति मै ही हूँ। मैं ही समस्त कर्मों का फल दाता हूँ, मैं ही जगत् का भरणपोषण कर्ता हूँ। मै ही साक्षी हूँ, मै समस्त प्राणियों के शुभाशुभ का द्रष्टा हूँ। प्रभु भी मैं ही हूँ। स्वामी मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नही। सबका निवास-भोग स्थान भी मैं ही हूँ। सबकी एक मात्र शरण मैं हूँ, जहाँ जाकर दुःख शीर्ण होते हैं वह शरण मेरा ही स्वरूप ह, और शरणागतों का दुःख दूर करने वाला प्राणिमात्र का सच्चा सुहृद् मैं ही हूँ। जब पुरुष को यह दृढ़ निश्चय हो जाय, कि समस्त भूतों का एक मात्र सुहृद् मैं ही हूँ, तो उसे परमशान्ति की प्राप्ति हो जाती है। अतः अर्जुन चराचर का सुहृद मुझे ही समझो मैं किसी से भी प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रखता। उपकार करने का मेरा सहज स्वभाव है।

मैं सबकी उत्पत्ति का एक मात्र स्थान प्रभव हूँ, मै ही सबके विनाश का एक मात्र कारण प्रलय हूँ। मैं ही सब स्थिति हूँ; सबके ठहरने का स्थान और सभी सूक्ष्मरूप वस्तुओं का अधिकरण प्रलय स्थान हूँ। सबकी निधि कोष-निधान भी मै ही हूँ। मैं ही

सबकी उत्पत्ति कारण अव्यय-कभी भो नाश न होने वाला बीज हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—सब कुछ तो आप ही हैं। जिन सूर्य की उपासना करते हैं, वे सूर्य भी आपका ही स्वरूप होगे ?

भगवान् ने कहा—हाँ, अर्जुन ! तुम यथार्थ कहते हो। सूर्य रूप से जगत् में मैं ही तपता हूँ। मेरा ही नाम जल को चुराने वाला भास्कर है। मे ही समुद्र, तालाब, नदी, कूप तथा समस्त प्राणियों के शरीरों से जल चुरा चुराकर एकत्रित करता हूँ और फिर उस चुराये हुए-आकर्पण किये हुए-जल को बरसाता हूँ। मैं ही अमृत हूँ और मृत्यु भी मेरा ही स्वरूप है। अर्जुन ! सत् भी मेरा रूप है और असत् भी मेरा ही स्वरूप है। अब तुम्हें अधिक कहाँ तक गिनाऊँ। बस, यही समझलो कि जो भी कुछ स्थावर जंगम, चर, अचर दृश्यमान, अदृश्यमान पदार्थ हैं, वे मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं हैं।

अत: मुझ सर्वात्मा पुराण पुरुष की अपने-अपने अधिकारानुसार मेरी ही उपासना करनी करनी चाहिये। सबका एक मात्र उपास्य देव मै ही सर्वान्तर्यामी प्रभु हूँ।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! यह तो सत्य है कि सब रूपों में आप ही है। आपकी उपासना चाहें भेदभाव से करे चाहें अभेद भाव से अथवा सर्व भाव से उनका तो संसार से आवागमन छूट ही जायगा। उनका संसार में पुनर्जन्म न होगा। वह जन्ममरण से रहित हो जायँगे। किन्तु जो सकामी हैं, सकाम भाव से अपनी कामना की पूर्ति के निमित्त ही वेदत्रयी द्वारा कर्म करते हैं, उनकी कौन-सी गति होती है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का जो

भगवान् उत्तर देंगे जो सकाम कर्मियों की भगवान् गति बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

हौं ही सबको परम धाम अरु पोषण कर्ता।
प्रभु मोई कूँ जानि शुभाशुभ द्रष्टा हर्ता॥
मोमें करें निवास शरन सबकूँ हौं देऊँ।
सच्चो सुहृद कहाइ प्रभव सब जगको मैंऊँ॥
मोई तैं होवै प्रलय, इस्थिति को आधार हूँ।
जगनिधान अव्यय परम, आदि बीज ओंकार हूँ॥

हौं ही सूरज बनूँ सकल संसार तपाऊँ।
हौं ही बनिके वाष्प खींचि कें जलकूँ लाऊँ॥
रंग विरंगे मेघ बनूँ पानी बरसाऊँ।
बनूँ अमृत सब सार जगत कूँ प्याइ जिवाऊँ॥
हौं ही बनिकें मृत्यु हू, प्रानिनि कूँ मारत रहत।
हौं ही सत अरु असत हूँ, सब कछु मोई कूँ कहत॥

त्रैविद्या के सकाम उपासकों की गति

[१०]

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥*

(श्री भग० गी० ९ अ० २०, २१ श्लो०)

छप्पय

तीनिहु वेदनि माहिँ करम के शुभ विधान जो।
तिनिकूँ विधिवत करें यज्ञ में सोमपान जो॥
पाप रहित ते पुरुष यज्ञ तैं मोकूँ पूजत।
पुन्य करम करि जायँ स्वरग में सुख तैं निवसत॥
निज पुन्यनि भोगें तहाँ, रहैं स्वरग में सुख सहित।
दिव्य विमाननि महँ बसत, दिव्य भोग भोगत रहत॥

---

* वेद की त्रैविद्या के अनुसार कर्म, कर्ता सोमरस पानकर्ता पाप रहित पुरुष मुझे यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग को चाहते हैं, वे पावन इन्द्रलोक को प्राप्त करके उस देवलोक में दिव्य भोगों को भोगते रहते हैं ॥२०॥

वे उस विशाल स्वर्गलोक के सुख को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। यहाँ वेदत्रयी कथित कर्मों की

संसार में कर्म ही प्रधान है, जो जैसा कर्म करेगा। वह वैसा ही भरेगा। प्राणियों का जन्म कर्मों के ही अनुसार होता है जैसे जिसके कर्म होते हैं वैसी उसको योनि प्राप्त होती है। भगवान् समदर्शी हैं, वे न किसी को दुःख देते हैं न सुख प्राणियों को जो सुख दुःख की प्राप्ति होती है, *सब पूर्व कृत कर्मों के ही द्वारा होती है।* शुभ कर्म करने पर सुख मिलता है, अशुभ कर्म करने से दुःख प्राप्त होता है। भगवान् सबको बिना पक्षपात के कर्मों के अनुसार सुख दुःख देते हैं। प्रारब्ध भी पूर्व कर्मों के ही अनुसार बनती है। प्राणी जो कर्म करते हैं, वे समस्त कर्म संचित होते रहते हैं। उन संचित कर्मों में से एक जन्म के जो भोग प्रदान किये जाते हैं उन्हीं कर्मों का नाम प्रारब्ध है। कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता। पशु-पक्षी तथा अज्ञानी मनुष्य बिना विचारे स्वभाव के वशीभूत होकर कर्म करते रहते हैं। जो साधक हैं, बुद्धिमान हैं शास्त्रज्ञ हैं वे विचार, विवेक, प्रज्ञा तथा वैराग्य आदि के अनुसार सोच समझ कर कर्म करते हैं। ज्ञानी हो अज्ञानी हो, मूर्ख हो पंडित हो। पशु, पक्षी, स्वदेज, उद्भिज, अन्डज तथा पिन्डज कोई भी प्राणी क्यों न हो कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता है। यह संसार ही कर्म क्षेत्र है। कममय ही संसार है।

कर्म दो प्रकार के है शुभ कर्म और अशुभ कर्म। उन्हें ही पुण्यकर्म और पाप कर्म कहते हैं। पाप कर्मों से नरकों की प्राप्ति होती है। दुःख क्लेश सहन करने पड़ते हैं। पापी लोगों को नरक की घोर यातनायें सहनी पड़ती हैं। अतः शास्त्र ने पाप

धारण जाते हैं, फिर वे काम-कामी पुरुष बारम्बार आते जाते रहते हैं ॥२१॥

कर्मों को निषेध बताया है। शास्त्र पाप कर्म करने को नहीं कहते। पाप कर्मों से अशुभ कर्मों से सदा बचते रहना चाहिये। इसी का उपदेश सब शास्त्र देते हैं। पाप कर्म अकर्तव्य है। कर्तव्य कर्म तो शुभ ही हैं। शास्त्र सदा शुभ कर्म करते रहने का उपदेश देते हैं।

शुभ कर्म भी चार प्रकार से किये जाते हैं एक तो यज्ञ, दान तपस्यादि कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त किये जाते हैं। दूसरे वर्णाश्रम विहित कर्म कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं। तीसरे भक्ति सम्बन्धी कर्म निष्काम भाव से प्रभु की पूजा के निमित्त बिना फल की इच्छा से किये जाते हैं और चौथे शुभ कर्म सकाम भाव से स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं। शुभ कर्म सभी एक से ही हैं, वे एक प्रकार से ही किये जाते हैं, कर्ता भी उन्हें एक समान ही करते हैं किन्तु भावना के अनुसार उनके फलों में भेद हो जाता है। यज्ञ के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वास्तव में वे ही कर्म हैं यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे तो बन्धन के कारण होते हैं।

ऋक्, यजु, और साम ये तीन वेद हैं। इन तीनों को वेदत्रयी कहते हैं। वेदों में कर्मों का ही विधान है। समस्त वेद यज्ञ कर्मों का ही प्रतिपादन करते हैं। वे कर्म स्वर्ग प्राप्ति की कामना से किये जाते हैं, तो उनसे दिव्य स्वर्ग लोकों की प्राप्ति होती है। इन्द्रादि दिव्य लोक क्षयिष्णु है, कलपान्त में इन लोकों का क्षय हो जाता है, अतः क्षयिष्णु लोकों की प्राप्ति की भावना से जो कर्म किये जाते हैं, उन कर्मों का फल भी क्षयिष्णु होता है। वे लोक सीमित हैं अतः उन लोकों की कामना से जो कर्म किये जायँगे, उनके फल भी सीमित होंगे। सीमित समय तक स्वर्ग के दिव्य सुखों को भोगते हुए जब भोगों

से पुण्यों का क्षय हो जायगा, तो उन पुण्यात्मा पुरुषों को स्वर्ग से ढकेल दिया जायगा। फिर उनका जन्म पुण्यात्मा कर्म कांडो वेदज्ञों के यहाँ ही होगा। पूर्व स्वभावानुसार वे पुनः शुभ कर्म करेंगे, उनके प्रभाव से पुनः स्वर्ग जायेंगे फिर पुण्य क्षीण होने पर यहाँ जन्म लेंगे। उनका आवागमन ऐसे ही बार-बार होता रहेगा।

इन सकाम कर्मों को करने वाले गृहस्थी ही होते हैं, क्योंकि ये कर्म बिना पत्नी के सम्पन्न होते ही नहीं। पत्नी शब्द का अर्थ ही है, जिसके साथ यज्ञ यागादि किये जायँ। ऐसे कर्म-कांडी न कभी वन में जाते हैं और न संन्यास ग्रहण करते हैं, क्योंकि वे तो काम कामी होते हैं।

दूसरे लोग इन्हीं कर्मों को स्वर्ग की कामना के निमित्त नहीं, कर्तव्य समझकर वर्णाश्रम विहित पद्धति से करते है। जिस-जिस वर्ण के, जिस-जिस आश्रम के जो कर्म बताये है, उन्हें कर्तव्य बुद्धि से दृढ़ता के साथ वे करते रहते हैं। वे एक वर्ण से दूसरे वर्ण को एक आश्रम से दूसरे आश्रम को प्राप्त होते हैं। स्वर्ग का सुख ये लोग भी भोगते हैं। ये काम कामी नहीं होते हैं। कर्तव्य पालन कामी होते हैं। अतः वे क्षयिष्णु स्वर्ग से भी अधिक टिकाऊ, मह, जन, तप और सत्य लोको को भी प्राप्त करते हैं। क्योंकि कल्पान्त में भू, भुव और स्वर्ग इन तीनों लोकों की प्रलय हो जाती है। मह, जन, तप और सत्य ये लोक बच जाते हैं, अतः स्वर्ग की अपेक्षा ये लोक नित्य माने जाते हैं। फिर भी ब्रह्माजी के वर्षों से १०० वर्ष व्यातीत होने पर एक ब्रह्मा के बदलने पर ये लोक भी नष्ट हो जाते हैं, अतः ये सनातन लोक नहीं कहे जाते। ब्रह्मलोक पर्यन्त पुनरावर्ती लोक हैं। अतः वर्णाश्रम धर्म विहित कर्मों के करने से स्वर्गीय सुखों को

भोगकर फिर एक से बढ़ कर दूसरे श्रेष्ठ वर्ण में क्रम से जन्म लेना पड़ता है। और अन्तिम ब्राह्मण वर्ण में अन्तिम आश्रम संन्यास ग्रहण करने पर ज्ञान हो जाने पर पुनरावर्ती नहीं होती। वर्णाश्रम धर्म मार्ग क्रम मार्ग है, इसमें ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है और ज्ञाननिष्ठ संन्यासी की ही मुक्ति सम्भव है। अतः यह अपुनावृत्ति मार्ग है। इसका विशेष वर्णन स्मृति ग्रन्थों में है इसे स्मार्त धर्म भी कहते हैं।

तीसरे इन्हीं कर्मों को निष्काम भाव से भगवत् पूजा समझ कर करने पर ये ही कर्म उपासना कहलाते हैं। वैदिक भाषा में इसे उपासना कहते हैं, पौराणिकी भाषा में इसी का नाम भक्ति मार्ग है। भक्ति मार्ग में जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें *निष्काम भाव से करते हैं। केवल प्रभु प्रीति की कामना रहती* है। मेरे इस काम से प्रभु प्रसन्न हों, हमें अपनी भक्ति प्रदान करें। इन कर्मों में वर्ण, आश्रम, स्त्री या पुरुष किसी का आग्रह नहीं। यह निष्काम कर्म योग अथवा भक्ति मार्ग के अधिकारी सभी वर्ण, सभी आश्रम सभी लिंग के पुरुषों का अधिकार है। *इस मार्ग में संन्यास का कोई आग्रह नहीं।* जैसे वर्णाश्रम धर्म का आग्रह है ब्राह्मण ही संन्यास ले सकता है और संन्यासी की ही मुक्ति हो सकती है। संन्यासी को सर्व कर्मों का परित्याग करना ही चाहिये। ऐसे आग्रह इस मार्ग में नहीं। ब्रह्मचारी भी भक्ति या निष्काम कर्म द्वारा संसार सागर से पार हो सकता है और गृहस्थी वानप्रस्थी, अथवा संन्यासी को भी वही गति प्राप्त हो सकती है। शूद्र भी भक्ति द्वारा तर सकता है और उसी प्रकार वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, अन्त्यज अथवा उनकी नारियाँ भी इस पथ का अनुसरण कर सकती हैं। *यह भी अपुनरावृत्ति मार्ग है, इसका विशेष वर्णन पांच रात्रादि दिव्य*

तन्त्रों में श्रीमद्भागवत, श्री मद्भगवत् गीता तथा अन्यान्य पुराणों में विशेष रूप से है।

चौथे इन्हीं कर्मों को अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त तब तक किया जाता है, जब तक पूर्ण ज्ञान न हो। हमारे शरीर में मल भरा है, शरीर मलायतन है, मन में भाँति-भाँति के विक्षेप हैं, बुद्धि के ऊपर अविद्या का आवरण है। इस कारण हमारा अन्तःकरण दूषित हो रहा है। उस पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है। इस अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त वेद विहित शुभ कर्म करने चाहिये। जब शुभ कर्म करते-करते अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तब कर्मों से निवृत्त हो जाना चाहिये। प्रव्रज्या धारण कर लेनी चाहिये कर्मों का संन्यास करके अभेद भाव से ब्रह्म चिंतन में ही लीन हो जाना चाहिये। इस ज्ञान मार्ग में भी वर्ण और आश्रम की अपेक्षा नहीं। अन्तःकरण जिसका भी शुद्ध हो जाय, वह चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी हो। सभी की मुक्ति हो जायगी। अन्तःकरण शुद्ध होने पर ब्रह्म कहीं दूसरे स्थान से आ नहीं जाता। जैसे कोई शीशा है, बहुत दिनों तक बाहर रहने पर उस पर धूलि जम गयी है, उसमें मुख दिखायी नहीं देता। आप पवित्र वस्त्र से शनैः शनैः उसकी धूलि को हटा दो। निर्मल वस्त्र से उसे पोंछ दो आपको अपना प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष दिखायी देने लगेगा। उसमें प्रतिबिम्ब तो पहिले से ही था, किन्तु धूलि जमने से समल होने से दिखायी नहीं देता था। धूलि हट जाने पर निर्मल हो जाने पर वह दिखायी देने लगा। इसी प्रकार ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त है। हमारे हृदय देश में भी विराजमान है। अन्तःकरण के मलीन हो जाने पर वह दीखता नहीं। शुभ कर्मों के प्रभाव से जब उसका मल दूर हो जायगा। रागरूप धूलि पुँछ जायगी। मोह का आवरण हट जायगा ब्रह्म साक्षात्कार हो

जायगा। यह भी अपुनरावृत्ति मार्ग है। उपनिषदों में ब्रह्म सूत्रादि में इसका विवेचन है।

इस प्रकार, स्वर्ग कामना से किये हुए त्रैविद्य कर्म, वर्णाश्रम विहित कर्तव्य भावना से किये हुए कर्म, निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ किये जाने वाले भक्ति भावना से कर्म और अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त किये जाने वाले ब्रह्म ज्ञान के निमित्त कर्म ये चार प्रकार के कर्म है। इनमें पहिला काम कामियों द्वारा स्वर्ग की कामना से किये जाने वाला कर्म पुनरावृत्ति मार्ग है। शेष तीनों प्रकार के कर्म अपुनावृत्ति मार्ग के कर्म हैं। शुभ होने पर भी, वेद विहित होने पर भी कामों की कामना से किये जाने वाले स्वर्गादि पुण्यलोकों को देने वाले कर्मों की भगवान् निन्दा करते हैं, क्योंकि वे भले ही शुभ कर्म क्यों न हों, भले ही वेदों ने उनका विधान किया हो, किन्तु वे जन्ममरण के चक्कर से तो नहीं छुड़ा सकते। ये कर्म फिर-फिर संसार को ही देने वाले हैं। भगवान् इसीलिये इन कर्मों को परमश्रेष्ठ—सर्वोत्तम—नहीं बताते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन ने जब त्रैविद्या उपासक सकाम कर्मियों की गति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! चाहे भेद भाव से निष्काम कर्मो को करो, चाहे अभेद भाव से अथवा अन्य अनेक प्रकार से। निष्काम कर्मों का परिणाम तो जन्म मृत्यु के बन्धन को सदा के लिये छुड़वा देना ही है। चाहें क्रम से मुक्ति हो अथवा सद्य मुक्ति हो, संसार सागर से निष्काम कर्म करने वाले पार हो ही जाते हैं, किन्तु जो अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के निमित्त सकाम वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, उनका अन्तःकरण तो विशुद्ध होता नहीं, कामनाओं के कारण उसमें मल, विक्षेप और आवरण बना ही रहता है, वे जन्ममरण के चक्कर से छुटकारा नहीं पा सकते।

वे बारम्बार मरते और जीते रहते हैं। जन्मना और मरना अपने आप में ही दुःखमय कर्म हैं, अतः उनका दुःख से छुटकारा नहीं होता।

अर्जुन ने कहा—प्रभो वेद का वचन है, सोमपान करके हम निष्पाप बन जायंगे, तो फिर वे दुखी क्यों रहते हैं। दुःख तो पाप का परिणाम है, जो निष्पाप है, उन्हें तो सुख की प्राप्ति होनी चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—सुख भी अपेक्षा कृत होता है। सोमपान से अवश्य वे निष्पाप होते हैं, किन्तु उनके पुण्यों की तो वृद्धि होती है। जो वेदत्रयी का अनुसरण करते हैं, और वेद विहित सोमयज्ञों में सोमरस का पान करते हैं, उनके पाप कटते हैं पुण्य बढ़ते हैं। पुण्यों का फल स्वर्गीय सुख है। उन्हें यज्ञों के परिणाम स्वरूप स्वर्ग को प्राप्ति होती है। स्वर्गलोक स्वयं अपने आप में क्षयिष्णु है, अतः उनका सुख भी क्षयिष्णु है।

अर्जुन ने पूछा—वे लोग स्वर्ग में कब तक निवास करते है ?

भगवान् ने कहा—मायिक सुख सीमित होते हैं। जैसा जिसका पुण्य होगा, जितने दिन के उनके भोग होंगे, उतने ही दिनों तक वे स्वर्ग में रहेंगे। क्षयिष्णु पदार्थों की एक नियत मर्यादा रहती है। स्वर्ग में कोई नये पुण्य कर्म तो कर नहीं सकते। क्योंकि स्वर्ग कर्म भूमि नहीं है, भोग भूमि है, वहाँ तो जो पृथ्वी पर अर्जन किया है, उसका व्यय ही करना होता है। आगे के लिये अर्जन तो किया न जाय, केवल व्यय ही करते रहो, तो कुबेर का कोष भी एक दिन चुक जाता है। इसलिये वेदत्रयी के अनुसार उन्होंने जो यज्ञों के द्वारा यजन किया है, उस यजन से जो पुण्य अर्जित किया है, उन पुण्यों के प्रभाव के योग्य दिव्य

भोगों को भोगते रहते हैं, अप्सराओं के साथ विहार करते रहते हैं स्वर्गीय अमृत का पान करते रहते हैं।

उन विस्तृत स्वर्गीय भोगों के भोग से उनके पुण्य क्षय होते रहते हैं। जब उनके पुण्य क्षीण प्रायः हो जाते हैं, तो वे वहाँ से ढकेल दिये जाते हैं। मृत्यु तो केवल पृथ्वी पर हो होती है इसलिये पृथ्वी को मर्त्यलोक कहा है। अन्य लोकों में मृत्यु नहीं होती। वहाँ से वे ढकेल दिये जाते हैं, उन्हें स्वर्ग से च्युत कर दिया जाता है। स्वर्ग से च्युत होने पर पुनः इस मनुष्य लोक में मर्त्यलोक में आना पड़ता है। यहाँ आकर उन्हें पुन: गर्भ में रहना पड़ता है। गर्भवास के दुःखों को उठाना पड़ता है। वे काम कामी होने के कारण, शुभ कर्मों के कारण उत्तम कुल में जन्म लेते हैं, और वे त्रैधर्म्य-होता अध्वर्यु और उद्गाता-इन तीनों के धर्म के योग्य ज्योतिष्टोमादि कर्मों में पुनः प्रवृत्त हो जाते हैं। ऋक्, यजु तथा सामवेदानुसार शुभ कर्म करके पुनः स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वे पुनः स्वर्ग जाते हैं पुनः लौटकर मर्त्यलोक में आते हैं। जब तक वे निष्काम नहीं होते। सकाम कर्मों को करते रहते है, तब तक बारम्बार आते-जाते रहते हैं जन्म लेते और मरते रहते हैं। वे लोग यहाँ रहकर जो यज्ञ कर्म करते हैं, उन यज्ञीय संभारों को जुटाते रहते हैं तथा उनकी तत्परता से रक्षा करते हैं, क्योंकि यज्ञीय पदार्थों को जुटावें नहीं और एकत्रित किये हुओं की तत्परता से रक्षा न करें तो आगे कर्म कैसे हों, अतः उन्हें संग्रह करना पड़ता है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! जो काम कामी नहीं हैं। किसी संसारी कामना की पूर्ति के निमित्त यज्ञयागादि शुभ कर्मों को करते नहीं। केवल अनन्य भाव से आपके ही निमित्त समस्त क्रियायें करते हैं। केवल अनन्य भाव से आपका ही चिन्तन करते

रहते हैं। उन्हें भी तो जीवन निर्वाह के लिये सामग्रियों की आवश्यकता रहती है, जब वे आठों प्रहर आपके ही चिन्तन में लगे रहेंगे, कर्म भी करेंगे, तो सब निष्काम भाव से करेंगे। ऐसे लोगों का जीवन निर्वाह कैसे हो, उनकी रक्षा कौन करेगा?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

अति विशाल है स्वरगलोक पापी नहिँ जावें।
पुन्यवान फल भोगि पुन्य छय पै पुनि आवें॥
करें कामना सहित सविधि मख स्वरग सिधारें।
छय जब होवे पुन्य यज्ञ करि फेरि पधारें॥
त्रयी वेद अनुसरण करि, पुनि-पुनि आवत जात हैं।
करम कामनावश करत, भोग भोगि हरषात हैं॥

इसके आगे की कथा अगले अङ्क में पढ़िये!

छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय

श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद।

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही, अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्री महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञा एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक की पुस्तक प्रेस में पहुँच गई है शीघ्र ही आपको प्राप्त होगी